॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्री भक्तजनमानसहंसाय नमः

श्री वृष्णिवंशावतंसाय नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* सप्तमोऽध्यायः *

ॐ अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाऽभिमर्शनः ॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(ऋ० सं० १० अ० ५ व० २५ मं० १२)
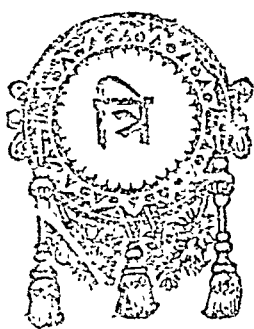
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने। वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥ सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य। स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु॥

अहा! सखे! आज वायुमें इतनी प्रसन्नताकी लहलहातीहुई लहरें क्यों पडरही हैं? जिनके स्पर्शसे अशोक, अश्वत्थ, आम्रादि वृक्षों की टहनियां जो शिशिर-ऋतुके कारण पत्र और पुष्पोंके झडजाने से उदासीनताको प्राप्त होगई थीं फिर प्रफुल्लित होने चाहती हैं। इससे अनुमान होता है, कि किसी हरिभक्तका मुर्झायाहुआ हृदय आज कहीं आनन्दसे मत्त होरहा है।

मेरा अनुमान सत्य है! वह देखो! महाभारतकी रणभूमिमें भगवत्के परम प्रिय सखा दृढव्रत भक्त अर्जुनकी ओर देखो! जिसका मुख सरोज जो सम्बन्धियोंके बधमें उद्यत होनेके तापसे मुर्झागया था श्यामसुन्दरके मुखारविन्दसे टपकतेहुए उपदेशामृतसे संतृप्त होकर अब प्रफुल्लित होचला है। जिसने शोक-संविग्न-मानस होकर गांडीवका परित्याग करदिया था, अब अपने हाथोंसे फिर उसका स्पर्श किया है और बाणसे मिलाकर ऐसी टंकार भरी है, जिसे सुन बीरोंके हृदयमें

वीररस उमड आया है और कायर रण छोड, जिधर-तिधर भागनेकेलिये मार्ग ताकरहे हैं। ऐसा बोध होता है, मानो! मन्दराचलके आघातसे समुद्र खलबला रहा हो, युगान्तमें पञ्चभूतोंके परस्पर टकरानेसे भू-मण्डल थर्रारहा हो, प्रलयकालकी गर्जना करतीहुई मेघमालाओंसे वारंवार ह्रादुनियोंका पतन होरहा हो, शेषनाग पातालमें व्याकुल हो अपने सहस्रों फणोंसे बारम्बार फूत्कार छोडरहे हों, दिग्गजगण भी घबराकर अपने दाँतोंसे पृथ्वीका बोझ पटक कहीं भागजानेकी इच्छा कररहे हों। यमलोकमें यमका महिष रोषमें भरकर अपने सींगोंको उठा लाल-लाल नेत्रोंसे घुडक-घुडककर महाभारतके वीरोंकी ओर देखरहा हो ऐसा अनुमान होता है, कि इस ध्वनिने चौदहों भुवनमें मानो ऐसी सूचना देदी है, कि चलो देखो! अब अर्जुन महाभारतका युद्ध सम्पादन किया चाहता है।

क्यों न हो? त्रैलोक्यविजयी स्वयं श्री वासुदेव भगवान् जिस रथपर रथवान् होकर विराजमान हों तिसकी विजय होनेमें क्या सन्देह है? कुछ भी नहीं! तनक भी नहीं!!

ऐसे सदश्वोंके हांकनेवाले सारथीसे हमलोगोंकी भी यही प्रार्थना है, कि हमारे शरीर-रूप रथके अन्तःकरणरूप चारों घोडोंको हांकता हुआ दुष्कर्मरूपी शत्रुओंके कठोर बाणोंसे बचाताहुआ मोक्ष-रूप विजय का डंका बजवादेवें।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मू०— मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (अर्जुन!) मयि (सर्वेश्वरे) आसक्तमनाः (अनुरक्तम् मनो यस्य वा विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य) मदाश्रयः (हित्वाऽन्यसाधनः । अहमेव परमेश्वर आश्रयो यस्य) योगम् (ध्यानयोगं भक्तियोगं वा) युञ्जन् (पूर्वोक्त प्रकारेण समादधानः) [सन्] असंशयम् (सकलसन्देहरहितम्) समग्रम (समस्तविभूतिबलैश्वर्यादि गुणसम्पन्नम) माम् (वासुदेवम) यथा (येन प्रकारेण) ज्ञास्यसि, तत् (तत्प्रकारम्) शृणु ॥ १ ॥

पदार्थः— (श्रीभगवानुवाच) सकलगुणनिधान भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बोले (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (मयि) मुझ सर्वेश्वरमें (आसक्तमनाः) मनको आसक्त अर्थात् अनुरक्त कियेहुए (मदाश्रयः) अन्य सब प्रकारके आश्रयोंको छोड केवल मुझहीमें आश्रय लगायेहुए (योगं युञ्जन्) ध्यान-योग तथा भक्तियोगको चित्तमें समाधान कियेहुए (असंशयम) सर्व संशयोंसे रहित (समग्रं माम्) सर्व प्रकारके ऐश्वर्योंके सहित मेरे सम्पूर्ण स्वरूप को (यथा) जिस प्रकारसे (ज्ञास्यसि) तू जानजावेगा (तत्) सो उपाय (शृणु) सुन ! ॥ १ ॥

भावार्थः— अब आनन्द-कन्द श्री ब्रजचन्द उपासनाकाण्ड का आरम्भ करते हैं। यद्यपि अर्जुनने उपासनाके विषय कुछ भी नहीं पूछा है तथापि दयासागर स्वयं कृपा करके अर्जुनको उपासनाका अधिकारी जानकर उपासनाभेदको दिखलाना चाहते हैं। क्योंकि वे साक्षात् कृपाके समुद्र हैं और यथार्थ कृपा भी वही है जो बिना मांगे बिना याचना किये आपसे आप दाता दरिद्रोंको दान देवे। यह उदारचरित्र केवल उसी महा प्रभुमें है। क्योंकि ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्त जितने देव और देवी हैं उनमें ऐसी निरपेक्ष उदारता होती ही नहीं। क्योंकि ये तो सेवा शुश्रूषासे प्रसन्न हो मांगनेपर कुछ देते हैं पर वह महाप्रभु आनन्दकन्द तो बिना सेवा ही सदा सबकुछ विना मांगे देने को तैयार रहता है। इसलिये अर्जुन तथा संसारी जीवोंपर दया करके उपासनाके भिन्न भेदरूप अमूल्य रत्नोंको इस गीता-शास्त्र द्वारा इस मर्त्यलोकमें इस प्रकार बखेरदेना चाहते हैं जैसे कोई दयावान् छोटे-छोटे पक्षियोंपर दया कर उनके चुगनेके लिये स्वच्छ भूमिपर नाजका ढेर बखेर जाता है।

शंका— भगवान् केवल निष्काम-कर्मकी सिद्धि द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिका लाभ पिछले छौ अध्यायोंमें दिखलाचुके हैं और तिस शुद्धिसे ज्ञानकी प्राप्ति हो ही जाती है फिर मध्यमें उपासनाकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— अन्तःकरणकी शुद्धिमात्र ही से ज्ञान नहीं प्राप्त होसकता है, जबतक वह अन्तःकरण एकाग्र न हो। किसी तेजसपात्रको

अथवा किसी काचको वा दर्पणको पूर्ण रीतिसे भस्म मल-मलकर स्वच्छ करलीजिये तो उसमें अपना मुंह अवश्य देखपडेगा । पर यदि उस दर्पणको हिलाते रहिये तो मुख स्वच्छ नहीं देखपडेगा । जैसे मूर्त्ति खींचनेवाले आलोक्य-लेखक-यंत्र (CAMERA) को हिलाते रहें तो मूर्त्ति स्वच्छ नहीं खिंचेगी, विकृत होजावेगी । तथा किसी पात्रमें जलभरकर उस पात्रको हिला दीजिये फिर उसमें अपना मुख देखिये तो वह मुख विकृत देखपडेगा पर यथार्थ मुखका बोध नहीं होगा।

इसी प्रकार निष्कामकर्मरूप भस्मके मलने से अन्तःकरणरूप दर्पण स्वच्छ तो अवश्य होजाता है पर जबतक एकाग्र होकर स्थिर न होवे तबतक उसमें ब्रह्मज्ञानका स्वरूप अर्थात् भगवत्स्वरूप स्वच्छरूपसे नहीं देखा जासकता। इसी एकाग्रताके लाभ-निमित्त उपासनाकी अत्यन्त ही आवश्यकता है ।

सो उपासना क्या है वर्णन की जाती है– (उप+आस+युच+टापि) इस शब्दमें दो टुकडे हैं, उप और आसना । उपका अर्थ है समीप और आसनाका अर्थ है स्थिति अर्थात् किसीके समीपमें किसी व्यक्तिकी स्थितिको उपासना कहते हैं । सो यहां ब्रह्मके समीप जीवकी स्थितिको उपासना कहते हैं । तात्पर्य्य यह है, कि इष्टदेवके समीप स्थितहोकर प्रेम और भक्तिपूर्वक उनकी शुश्रूषा और परिचर्य्या करनेको उपासना कहते हैं । क्योंकि+वरिवस्या, शुश्रूषा और परिचर्य्या ये उपासना के ही पर्य्याय शब्द हैं ।

+ "वरिवस्या तु शुश्रूषा. परिचर्य्या ह्युपासना" (अमरकोश ब्रह्मवर्ग श्लो० ३५)

" यद्यपि तस्मिन् नित्यानन्दस्वरूपे भगवति परमेश्वरे एकान्तमेव प्रीतिकरणमेव तदुपासनं तथापि सर्वलोकमोहप्रदायिन्यां ज्ञानावरणकारिण्यामविद्यायां सत्यां कुतः सा सर्वसुखप्रदा तापत्रयच्छेत्री परमाप्रीतिरनुभवनीया ? अतस्तया आत्माज्ञानविलोपिन्या मलिनसत्त्वगुणाया रजस्तमःप्रधानाया अविद्यायाः प्रणाशनार्थमेवावश्यमुपासनाकरणीयेति सर्वेषामपि शास्त्राणां सारमिति बोध्यम् । परन्तु सबलदुर्बलाधिकारिभेदेन उपासनाया अपि प्रभेदौ उपदिष्टौ तत्त्वदर्शिभिः " ॥ १ ॥

अर्थ— यद्यपि उस नित्यानन्द-स्वरूप-भगवत् परमेश्वरमें एकान्त प्रीति करनेको अर्थात् अन्य सब आश्रयोंको त्यागकर केवल उसीके चरणोंमें प्रेम लगानेको उपासना कहते हैं, तथापि सर्वलोक-लोकान्तर निवासी देव, दनुज, गन्धर्व और मनुष्यादिको महामोहमें डालनेवाली तथा ज्ञानको आच्छादन करनेवाली भगवन्मायाकी अत्यन्त प्रबलताके झकझोडमें अर्थात् द्वन्द्वोंके बीच उन भगवच्चरणारविन्दोंसे लगनका लगना कठिन देखपडता है । इसलिये आत्मज्ञान लोप करनेवाली मलिन सत्त्वगुण और तमोगुण तीनों गुणोंकी प्रधानता लियेहुई इस दुरत्यया, दुर्जया मायाके नाश करनेके निमित्त उपासनाकी अत्यन्त ही आवश्यकता है यही सर्व-शास्त्रोंकी मुख्य सम्मति जाननी चाहिये। परन्तु सबल और निर्बल अधिकारियोंके भेदसे तत्त्वदर्शियोंने इस उपासनाके दो भेद वर्णन किये— निराकार और साकार । जो योगी अनेक जन्मोंमें साकार उपासना करके उपासनाका यथार्थ मर्म समझ जाता है और योगकी ऊंची श्रेणीपर चढजाता है तब उस सर्वेश्वर

चराचरके नायक, सर्वव्यापक, अव्यक्त और अनादिकी निराकार-उपासनाका अधिकारी होता है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जबतक योगी ब्रह्मविद्याकी पाठशालामें नीचेकी श्रेणियोंको समाप्त न करले तबतक उच्च-श्रेणी जो निराकार-उपासना तिसका अधिकारी नहीं होता।

यदि शंका हो, कि भगवान्का स्वरूप तो निराकारही है साकार नहीं है? सो ऐसा नहीं! भगवत्के दोनों स्वरूप हैं निराकार और साकार " द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तं चेति " यह ब्राह्मणभाग वेदका वचन है, कि उस ब्रह्मके दो स्वरूप हैं— मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान। भगवत् पहले निराकार-स्वरूपमें शान्त और स्थिर रहता है जब उसे सृष्टिकी इच्छा होती है तब वह अपने साकार ऐश्वर्य्य और विभूतियोंको अंगीकार कर पहले विराट्रूप धारण करता है। जिसके विषय वेद यों कहता है— " ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात " अर्थ— वह परमेश्वर अनन्त मस्तक, अनन्त नेत्र और सहस्रों पांववाला है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पातालपर्य्यन्तकी एक अद्भुत विराट्मूर्त्ति, जो प्रकट होकर सर्वत्र फैलजाती है वही साकार-ब्रह्म है। इसलिये वेदने उसकी साकारमूर्त्ति अर्थात् वैश्वानर-मूर्त्तिका भी वर्णन करदिया है। तात्पर्य्य यह है, कि इस विराट्में जितनी वस्तु देखीजाती हैं सब उसी निराकार ब्रह्मकी भिन्न-भिन्न शक्तियों और भिन्न-भिन्न ऐश्वर्य्योंकी साकार मूर्तियां अभिव्यक्त होकर फैल-गई हैं। जैसे " ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ " (शु० यजु० अ० ३० मंत्र १२) अर्थ— मनसे चन्द्रमा, नेत्रसे सूर्य्य, श्रोत्रसे वायु और प्राण

तथा मुखसे अग्निदेव उत्पन्न हुए । तात्पर्य्य यह है, कि उसी नित्या॰ कार ब्रह्मसे ये भिन्न-भिन्न वस्तु प्रकट होकर ब्रह्माण्डमें फैलगयीं। वरु ऐसा कहना चाहिये, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उस ब्रह्मके निराकार ऐश्वर्य्यका साकार स्वरूप है । अतएव निराकार और साकार दोनों प्रकारकी उपासनाकी आवश्यकता हुई ।

जो निर्बल अधिकारी है वह निराकार ऐश्वर्य्योंकी उपासना कर॰ नेमें असमर्थ है । क्योंकि उसके पूर्व-शरीरके संस्कारानुसार उसकी बुद्धिका संयोग निराकारके साथ नहीं होसकता । इसलिये इसका अधिकारी लाखोंमें कोई एक पुरुष होता है, जो परमात्माके निराकार-तत्त्वका साक्षात्कार करसके । सो भगवान् आगे तीसरे श्लोकमें स्वयं कहेंगे, कि " **मनुष्याणां सहस्रेषु** " ।

आत्माके अपरोक्षज्ञानवाले जिन्होंने आत्माका साक्षात्कार किया है, वे निराकार-उपासक हैं अर्थात् उस ब्रह्मदेवका निराकार-स्वरूप आत्मा है जिसका कुछ आकार नहीं है, पर सर्वत्र फैलाहुआ है और आश्चर्य्यवत् देखाजाता है। इस निराकार आत्माकी ही उपासनाके विषय याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं—

श्रुतिः— " **ॐ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम्** ॥ " (बृहदारण्य० अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति ६)

अर्थ— अरी मैत्रेयी ! आत्मा ही देखने, सुनने, मननकरने और निदिध्यासन करने योग्य है । सो हे मैत्रेयी ! आत्माहीके देखने, सुनने,

मानने और जाननेसे सारे ब्रह्माण्डकी निराकार और साकार विभूतियोंका बोध होजाता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आत्माकी उपासना करनेसे उपासक सर्वज्ञ होजाता है । स्वयं आनन्दकन्द अपने मुखारविन्दसे इस आत्माके विषय इसी गीताके तीसरे अध्यायमें पूर्ण रीतिसे कह आये हैं । इसलिये फिर यहां कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इस निराकार उपासनाका जो अधिकारी हो वह करे ।

अब साकार उपासनाका विषय वर्णन कियाजाता है सो सुनो ! सम्पूर्ण विराट्की उपासना साकार उपासना है । फिर विराट्के भिन्न२ अवयवोंकी यथा सूर्य्य, चन्द्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल इत्यादिकी उपासना भी साकार ही उपासना कही जाती है । क्योंकि ये सब उस ब्रह्मदेवहीकी साकार मूर्त्तियां हैं । तहां प्रमाण— " तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा । तदेव शुक्रन्तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः " (शुक्ल यजु०)

अर्थ— वही ब्रह्मदेव अग्नि है, आदित्य (सूर्य्य) है, वायु है, चन्द्र है शुक्र है; ब्रह्म है, जल है और वही प्रजापति है ।

अब विचार करने योग्य है, कि वेदोंकी आज्ञानुसार जब वही सर्वेश्वर अग्नि, सूर्य्य, वायु, चन्द्र, जल इत्यादि होकर प्रकट होरहा है तो इनकी उपासना करनेसे क्या हानि है ? इसलिये इनकी उपासना साकार उपासना कही जाती है ।

फिर शास्त्रकी यह भी आज्ञा है, कि " महाजनो येन गतः स पन्था " बडे २ महा पुरुष जिधर होकर गये उसी मार्गसे जाना

चाहिये । इसलिये यदि शंका हो, कि क्या किसी महा पुरुषने इन तत्त्वोंकी उपासनाकी है ? तो उत्तर यह है, कि अवश्य की है । तहां प्रमाण— जिस समय सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष, बुडिल और उपमन्यु ये पांचों महात्मा उद्दालकके साथ राजा अश्वपतिके समीप उपासनाका वृत्तान्त पूछने गये हैं उस समय राजाने एक-एकसे पूछा है, कि आप लोग किसकी उपासना पहलेसे कररहे हो ? तब इन महात्माओंने विलग विलग उत्तर दिया है । तहां श्रुतिः—

" अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्यं कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैय्याघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति " (छां० प्रपा० ५ खं० १३, १४, १५, १६)

अर्थ— राजाने पुलुषिके पुत्र सत्ययज्ञसे पूछा, कि तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया, कि हे पूजन करने योग्य राजन् ! मैं आदित्य (सूर्य्य) की उपासना करता हूं ।

तब राजाने दूसरे महत्मा भालवीके पुत्र इन्द्रद्युम्नसे पूछा, कि हे वैयाघ्रपद्य अर्थात् पुरुषोंमें व्याघ्रके समान वीर ! तुम किस आत्माकी

उपासना करते हो ? उसने उत्तरदिया, भगवन् ! मैं वायुकी उपासना करता हूं ।

फिर राजाने शर्कराक्ष्यके पुत्र जनसे पूछा, कि तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं आकाशकी उपासना करता हूं ।

तब राजाने अश्वतराश्वके पुत्र वुडिलसे पूछा, कि हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया भगवन् ! मैं जलकी उपासना करता हूं। एवम् प्रकार इन महा पुरुषोंने आदित्य, वायु, आकाश तथा जल इन चार साकार-ब्रह्मकी विभूतियोंकी उपासना बतलायी। इसी प्रकार गणेश, महेश, सुरेश इत्यादि जो उस महाप्रभुके साकार-स्वरूप हैं । इनकी भी उपासना कीजाती है ।

इतना तो अवश्य कहना ही होगा, कि ये साकार विभूतियां भी दो प्रकारकी हैं जड और चेतन । उपासना करने वाले इन दोनों प्रकारकी साकारे विभूतियोंकी उपासना करते हैं । जैसे गंगा, यमुना, ज्वालामुखी-पर्वत, अग्नि, वायु इत्यादि जो भगवान्‌की जड विभूतियां हैं तथा गणेश, महेश वा अपने गुरुदेव जो उसकी चेतन विभूतियां हैं तिनकी उपसना करते हैं ॥

इसी प्रकार इस समय भी जितने मत मतान्तर वाले इस पृथ्वीमण्डलपर वर्त्तमान हैं सब अपने-अपने धर्मकी मर्य्यादानुसार जड और चेतन दोनों प्रकारकी भगवद्विभूतियोंकी उपासना करते हैं ।

इसी कारण श्री योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति कहचुके हैं, कि "योगिनामपि सर्वेषाम्....." (अ० ६ श्लोक ४७) सब प्रकारके योगियोंमें जो मेरी उपासना करता है उसे मैं **युक्ततम** मानता हूं। क्योंकि ब्रह्म-लोकसे पाताल पर्यन्त जितने जड चेतन देवता और देवी हैं सब मेरे ही अंश और कलासे हैं। सब मेरे ही आधीन हैं। यद्यपि अन्य देवता देवीकी उपासना करनेवाले भी जो अपने-अपने इष्टदेवको नमस्कार पूजन करते हैं सब मुझहीको आपहुंचते हैं। इसी कारण मेरी उपासना करनेवाले सहजमें मेरे सगुण वा निर्गुण स्वरूप की उपासना कर मुझमें ही प्राप्त होते हैं।

इसी तात्पर्यसे भगवान उपासनाका आरम्भ करतेहुए कहते हैं, कि [**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः**] हे पार्थ ! मेरेहीमें आसक्त मन होकर मेरे ही आश्रय रहकर योग-क्रियाका

टिप्पणी— मुसलमान अपने धर्ममें जड "संगे असवद" की जो एक काला पत्थर मक्केमें रखा है उसको चूमते हैं जिसे हजरत मुहम्मद साहबका सिंहासन बताते हैं। फिर "चेतन" स्वयं मुहम्मद साहबकी उपासना ईश्वरके समान ही करते हैं। क्योंकि जब वे चार वक्त नमाज पढेंगे तो दो ईश्वरके लिये और दो मुहम्मदसाहबके लिये।

इसी प्रकार ईसाई अपने धर्मानुसार जड 'सलीब' की जिसके आगे टोपी उतारते हैं। और चेतन हजरत ईसा, हजरत सेंटपीटर, सेंटपाल इत्यादि जिनकी मूर्त्तियां उनके देशमें बनी हैं, उपासना करते हैं। इसी प्रकार सैकडों प्रकारकी नदी पर्वत इत्यादिकी भिन्न-भिन्न देशोंमें उपासना कीजाती है।

सम्पादन करतेहुए मेरी ही उपासना द्वारा मुझको जैसे जानेगा सो सुन! मुख्य तात्पर्य भगवान्के कहनेका यह है, कि हे पृथाके पुत्र अर्जुन! तू यदि मय्यासक्तमन होजावे अर्थात् मेरे स्वरूपमें यदि तेरा अन्तःकरण अपनी इन्द्रियों सहित आसक्त होजावे, मेरे स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयसुखकी चाह न करे तो फिर तेरा कहना ही क्या है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे भ्रमर कमलके मकरन्दको पानकर उस कमलमें प्रेमपूर्वक लिपटजाता है अन्य किसी पुष्पके गन्धकी इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार श्यामसुन्दरमें लीन होनेसे प्राणी जब किसी अन्य सुखको नहीं चाहता अपना तन, मन, धन सब श्यामसुन्दरमें अर्पण कररखता है, अपनी माता, पिता, गुरु, सखा, सुहृद जो कुछ समझता है श्यामसुन्दर ही को समझता है और जिधर दृष्टि जाती है सर्वत्र उनहीकी शोभा देखता है वही भगवान्का परम प्यारा होजाता है।

"ॐ यथा व्रजगोपिकानाम्" (नारदभक्तिसूत्र) अर्थात् जिस प्रकार व्रजकी गोपियोंने भगवत्स्वरूपमें आसक्ति प्राप्त की थी जहां देखती थीं तहां श्याम ही श्याम देखती थीं। इन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा भगवान्ने अपने मुखारविन्दसे उद्धवके प्रति यों की है—

"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ”

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ४६ श्लो० ४, ५, ६)

अर्थ—सो गोपिकाएँ जो मन्मनस्क (मुझमें मन लगानेवाली) हैं तथा मत्प्राणाः हैं अर्थात् मेरेहीमें अपने प्राणको अर्पण करनेवाली अथवा मेरे दर्शनके लियेही प्राणको धारण करनेवाली हैं और केवल मेरी प्राप्तिके निमित्त अपने दैहिकोंको अर्थात् माता, पिता, पति, पुत्र इत्यादिको त्यागकर केवल मुझमें प्राप्त होरही हैं सो धन्य हैं। क्योंकि जो प्राणी मेरे लिये सब लौकिक-धर्म्म अर्थात् पुत्र, स्त्री इत्यादिसे मिलनेका सुख जो लौकिक-धर्मानुसार विदित है त्यागदेते हैं उनको मैं अपने प्रेमसे भरदेताहूं। हे उद्धव! मैं जो उन गोपियोंको उनके प्यारेसे भी अधिक प्यारा हूं सो मैं दूर रहताहूं। इस कारण वे सब गोकुलनिवासी स्त्रियां मेरा स्मरण करके मेरे विरहमें व्याकुलहो विह्वल होकरे मोहित होजाती हैं। और वे गोपिकाएँ जो मेरी परम प्यारी हैं, मेरी उस बातको जो मैंने चलते समय उनसे कही थी, कि मैं शीघ्र लौटकरे आऊंगा इस मेरे लौट आनेकी आशा पर अपने प्राणोंको बडी कठिनतासे धारण करती हैं। तात्पर्य्य यह है, कि वे मेरे विरहमें अवश्य प्राणोंको खोदेतीं पर मेरे लौट आनेकी आशापर केवल जीरही हैं ऐसी गोपिकाएँ धन्य हैं। भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य इस श्लोकमें यही है, कि व्रजगोपिकाओंके समान जो मुझमें मन आसक्त किये हो वही यथार्थ मय्यासक्तमनाः कहलाता है।

शंका— क्या गोपिकाओंका प्रेम व्यभिचारमय प्रेम नहीं कहा जावेगा ? जैसे सुन्दर स्त्रियां सुन्दर पुरुषके कटाक्ष तथा हाव-भावको देखकर कामातुर हो, केवल अपनी इन्द्रियोंके सुख निमित्त प्रेम करती हैं इसी प्रकार गोपिकाओंने भी कृष्णके संग किया होगा। तो ऐसे व्यभिचारभरे प्रेमकी प्रशंसा भगवान् क्यों करते हैं ?

समाधान— गोपिकाओंका प्रेम जारबुद्धि करके व्यभिचारमय नहीं था। गोपिकाएँ भगवानको अपना जार नहीं समझती थीं न उनके हृदयमें किसी प्रकारके इन्द्रिय-सुखके साधनका प्रयोजन था। इनका प्रेम तो स्थायी था। ये तो भगवानको जगत्कर्त्ता समझती थीं, अखिलान्तरात्मा समझती थीं और पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वर समझकर अपने उद्धार निमित्त अर्थात् भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त प्रेम करती थीं।

देखो ! जब श्यामसुन्दर रासबिलासके समय गोपिकाओंके प्रेमकी परीक्षा निमित्त अन्तर्द्धान होगये हैं, उस समय गोपिकाओंने प्रेममें विह्वल हो, जो गीत गाया है उससे सिद्ध होता है, कि वे भगवान् कृष्णचन्द्रमें ब्रह्माकार बुद्धि रखती थीं और चराचर-नायक समझती थीं। वह गीत यों है सुनो ! "न खलुगोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्। विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख ! उदेयिवान् सात्वतां कुले" (श्रीमद्भा० स्क० १० अ० ३१ श्लो० ४)

गोपिकाएँ कहती हैं, कि हे श्यामसुन्दर तुम गोपिकानन्दन ही नहीं हो अर्थात् यशोदाके पुत्र नहीं हो वरु तुम तो निरसन्देह सब

देहधारियोंके अन्तरात्माके देखने वाले हो! सो तुम जो अखिलब्रह्मा-ण्डनायक परमात्मा हो, केवल ब्रह्माजीकी प्रार्थना करनेसे संसारकी रक्षा निमित्त यादवकुलमें अवतरे हो! हम भक्तोंकी रक्षा करो! और हमें दर्शन दो।

इस गोपिका गीतसे यह पूर्ण प्रकार सिद्ध होता है, कि गोपिकाओंने श्यामसुन्दरको परब्रह्म, जगदीश्वर और अखिल ब्रह्माण्डनायक जानकर प्रीति की थी जार बुद्धिसे नहीं की थी। शंका मत करो!

अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू भी इन ही गोपिका-ओंके समान मय्यासक्तमन (योगं युञ्जन् मदाश्रयः) और मदाश्रय होकर ध्यान-योग तथा भक्तियोगमें समाहित-चित्त होताहुआ [असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु] निस्सन्देह जिस प्रकार तू समग्र मुझको सांगोपांग ज्योंका त्यों सर्वगुणोंसे सम्पन्न अर्थात मेरे चारों पाद सहित जान लेगा सो सुन!

शंका— भगवानने इस श्लोकमें ऐसा क्यों कहा? कि तू मुझको समग्र जानलेगा क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद तो यों कहता है, कि +ॐ पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (शु० यजु० पुरुषसूक्त ऋचा ३)

+ सायनाचार्यने इस मंत्रका भाष्य करके अन्तमें लिखा है, कि "यद्यपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिना तस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात्पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः"

अर्थ— भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें जितनी अद्भुत रचनाएँ बन गई थीं, बनती हैं और आगे बनती रहेंगी सब उस महाप्रभुकी महिमामात्र है सो उसके महत्वका एक पाद अर्थात् चौथा भाग है। इससे व्यतिरिक्त जो उस महाप्रभुकी महिमाके शेष तीन पाद हैं वे तो स्वयम् उसके दिव्य स्वरूपमें वर्त्तमान हैं जिसे कोई देवता देवी जाननेको समर्थ नहीं। फिर अर्जुनमें इतनी शक्ति कहांसे आयी, कि वह समग्र जानलेवे ?

समाधान— भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि मेरेको समग्र कोई नहीं जानता है, अल्प जानता है पर हे अर्जुन! यदि तू मय्यासक्तमन और मदाश्रय हो मेरे भक्तियोगमें समाहित-चित्त होगा तो तू मुझे समग्र जानलेगा इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। जैसे बडे-बडे बुद्धिमानोंको नटकी माया मोहित करलेती है पर नटके सेवकको उसकी माया मोहित नहीं करती। इसी प्रकार मेरे भक्तोंसे मैं छिपा नहीं रहता, मैं समग्र उसको बोध होता हूं और मेरे समग्र ऐश्वर्योंको मेरी उपासना करनेवाला पूर्ण प्रकारसे जानजाता है। शंका मतकरो!

इसलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि मैं अपने समग्र स्वरूपका भेद तुझ ऐसे अनन्य भक्तको सुनाताहूं एकाग्रचित्त हो सुन! ॥ १ ॥

मू०— ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
॥ २ ॥

पदच्छेदः— अहम्, ते (तुभ्यम) इदम् (मद्विषयकम्) सविज्ञानम् (विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वादनुभवसहितम्) ज्ञानम् शास्त्रजन्यमपरोक्षमेव ज्ञानम् तथा शुद्धप्रज्ञानम) अशेषतः (साकल्येन साधनफलादि सहितत्वेन निरवशेषम) वक्ष्यामि (कथयिष्यामि) यत्, ज्ञात्वा (वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्य) इह (अस्मिन् व्यवहारलोके) भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यम् (ज्ञातुं योग्यम) न, अवशिष्यते (अवशिष्टम्भवति) ॥ २ ॥

पदार्थः— (अहम्) मैं सर्वेश्वर (ते) तुझ अर्जुनके लिये (इदम्) यह जो मेरे परमानन्द-स्वरूपके विषय (सविज्ञानम्) विज्ञान-सहित (ज्ञानम्) अपरोक्ष ज्ञान है सो (अशेषतः) पूर्णरूपसे (वक्ष्यामि) कथन करूँगा (यज्ज्ञात्वा) जिसको जानकर (इह) इस संसारमें (भूयः) फिर (अन्यत्) अन्य कोई विषय (ज्ञातव्यम्) तेरे जाननेके योग्य (न, अवशिष्यते) शेष नहीं रहेगा ॥ २ ॥

भावार्थः— अब श्री नटनागर दयासागरने अपने परम प्रिय शिष्य और सखा अर्जुनके हृदयके उस तापको अर्थात उस शोकको जिसके विषय अर्जुन अपने मुंहसे बार-बार कहचुका है, कि हे भगवन् !

जो मेरे स्वजन लोग मुझसे युद्ध करने आये हैं उनको देखकर " सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति " मेरे अंग-अंग छीज रहे हैं और मुख सूखरहा है फिर कहा, कि " वेपथुश्च शरीरे मे " मेरा शरीर कांपरहा है। फिर कहा, कि " त्वक्चैव परिदह्यते " मेरी त्वचा जलती है। इन सब प्रकारके शोकोंसे संतप्त अर्जुनको भगवान् अपनी पूर्ण कृपा-रूप जलकी वृष्टि कर सन्तुष्ट किया चाहते हैं। इसलिये बिना पूछे कहते हैं, कि [ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः] हे अर्जुन ! मैं तेरे लिये इस विज्ञान सहित ज्ञान को अर्थात् उपासनाभेदको समग्ररूपसे कथन करूंगा। भगवान्का मुख्य तात्पर्य यह है, कि विज्ञान सहित जो यह उपासना—रूप ज्ञान है अर्थात् शास्त्रोंने जिस प्रकार विविध भांतिकी उपासनाका ज्ञान-विज्ञान सहित भेद उपदेश किया है सो कहूँगा। यह भी कहूँगा, कि इस प्रकार विज्ञान सहित उपासनाका ज्ञान किस पुरुषको लाभ होता है? और कैसे लाभ होता है ? इस सृष्टिकी रचनाका भेद जो विज्ञान-शास्त्रके अन्तर्गत है सो कहूंगा। फिर यह सृष्टि कहांसे उत्पन्न होती है ? कहां लय होजाती है ? और यह उस ब्रह्ममें कैसे है ? यह सब कहूंगा। फिर सर्वत्र सब वस्तुओंमें अपनी व्यापकता दिखलाऊंगा। और जिस प्रकार यह संसार मायासे मोहित होकर भगवान्को नहीं जानता सो भी कहूंगा। अपनी मायाकी प्रबलता कथन करूंगा। फिर उससे छूटनेका उपाय बताऊंगा। फिर जितने प्रकारके भक्त होते हैं उनका भेद बतलाऊंगा। तहां भक्तिकी श्रेष्ठता कथन करूंगा। पश्चात् संक्षिप्तमें ज्ञानका स्वरूप बताऊंगा। फिर जो दूसरे—दूसरे देवताओंको

भजते हैं उनका परिणाम बताऊंगा। अपने स्वरूपकी उपासनाका फल बताऊंगा। फिर ब्रह्मका स्वरूप बतातेहुए अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञको बताऊंगा। सृष्टि और प्रलयका भेद तथा अपने परमधामका महत्व दिखलाऊंगा। पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्तिका कथन करूंगा। उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गका वर्णन करूंगा। अपने ऐश्वर्योंको दिखलाऊंगा। कर्मबन्धन छूटनेका उपाय बताऊंगा। अपने चरणोंमें भक्ति करनेकी युक्ति बताऊंगा। फिर अपने भक्तोंको बुद्धियोगका उपदेश करूंगा। फिर अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करूंगा फिर अभ्यासयोगका उपदेश करूंगा।

एवम्प्रकार उपर्युक्त विषयोंका भण्डार खोलकर तेरे आगे रखदूंगा। तात्पर्य्य यह है, कि जो कुछ जानना चाहिये सब सांगोपांग जनादूंगा।

इसीलिये भगवान् इस श्लोकमें अशेषतः शब्दका प्रयोग करते हैं।

अब कहते हैं, कि [**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज ज्ञातव्यमवशिष्यते**] जिसको जानकर अन्य किसी वस्तुका जानना शेष नहीं रहता अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितनी रचनाएँ वा विभूतियां हैं सब जानली जाती हैं। क्योंकि जब साक्षात् भगवान् पूर्ण विभव सहित अपने स्वरूपका ही बोध करादेवेंगे तब शेष ही क्या रहजावेगा? तहां प्रमाण श्रुतिः— "येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥"

(बृहदा० अ० २ ब्रा० ४ श्रुति १४)

अर्थ— जिस प्राणीसे ये सब जाने जाते हैं अरे! तिस विज्ञानीको दूसरा कौन जाने ?

फिर श्वेताश्वतरकी श्रुति कहती है—“ यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ” (श्वेताश्वतर० अ० ४ श्रुति १५ में देखो) अर्थ— जिस भगवत्स्वरूप, आत्मानन्द तथा ब्रह्मानन्दमें ब्रह्मर्षि और देवता गण युक्त होरहे हैं अर्थात् दिन रात अपनी मनो वृत्तिको लगायेहुए हैं तिसको जानकर प्राणी मृत्युकी फांस काटकर निकलजाता है। ऐसे समग्र तत्त्वको आज भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करेंगे। तथा “ तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ” (श्वेताश्व० अ० ३ श्रुति ८)

अर्थ— तिसको जानकर मृत्युसे पार होजाता है इससे दूसरा कोई मार्ग जाननेका नहीं है ! नहीं है !!

इसी तात्पर्य्यको भगवान् अर्जुनके हृदयमें दृढ करते हैं, कि जिसको जानकर फिर इस संसारमें और कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता।

इसका कारण यह है, कि जैसे रज्जुसे सर्पका भ्रम उठजानेपर जब रज्जुका यथार्थ ज्ञान होजाता है, तब प्राणी निर्भय होजाता है। इसी प्रकार ज्ञानका अधिष्ठानरूप जो ब्रह्म तिसके बोध होजानेपर फिर इस मनगढित प्रपंचका नाश होजानेसे प्राणी निर्भय होजाता है ॥ २ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह जो तुम्हारे समग्र स्वरूपका अशेष विज्ञान है इसके जाननेके अधिकारी बहुत प्राणी हैं वा अल्प हैं? सो कृपा कर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले—

मू॰— मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३

पदच्छेदः— मनुष्याणाम् (अनेकजन्मार्जितपुण्यपुंज-वशाल्लब्धमानवशरीराणाम्) सहस्रेषु (असंख्यातेषु) कश्चित् (कश्चनैकः) सिद्धये (ब्रह्मज्ञानोत्पत्तये) यतति (यत्नं करोति) यतताम् (ब्रह्मज्ञानाय यतमानानाम् । प्रयत्नं कुर्वतां वा) सिद्धानां (प्रयत्नफलप्राप्तानाम् । मुमुक्षूणाम् । प्रागर्जितसुकृतानां वा) अपि, कश्चित्, माम (महेश्वरम्) तत्त्वतः (यथावत) वेत्ति (साक्षात करोति) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (सहस्रेषु) असंख्यात अर्थात् अनगणित (मनुष्याणाम) मनुष्योंके मध्य (कश्चित्) कोई मनुष्य (सिद्धये) अपनी क्रियाकी सिद्धि ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके लिये (यतति) यत्न करता है (यतताम्) ऐसे-ऐसे यत्नकरने वाले (सिद्धानाम) सिद्धोंमें (अपि) भी (कश्चित) कोई (माम) मुझको (तत्त्वतः) अर्थात् ठीक-ठीक जैसा जानना चाहिये वैसा (वेत्ति) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ:— अर्जुनने जो पहले भगवानसे पूछा है, कि यह जो विज्ञान सहित ज्ञान अशेषरूपसे तुम उपदेश करने को तत्पर हो इसके अधिकारी अनेक हैं वा अल्प हैं ? तिसके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि [मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये] + सहस्रों मनुष्योंमें कोई २ सिद्धिके लिये यत्नकरता है। अर्थात् जिन्होंने अनेक योनियोंमें फिरते-फिरते किसी उच्च संचितकी प्रेरणासे तथा बडे पुण्य-पुंजके फलोंके एकत्र होनेसे मनुष्य योनिको प्राप्त किया है। जिस योनिके गुणोंको देखकर देवतादि भी इस योनिकी प्राप्तिकी अभिलाषा रखते हैं। क्योंकि यह योनि ही मुक्तिका कारण है।

प्रमाण—"विमुक्ति हेतुकान्या तु नरयोनिः कृतात्मनाम्। नामुञ्चन्ति हि संसारे विभ्रान्तमनसो गताः। जीवा मनुष्यतां मन्ये जन्मनामयुतैरपि। तदीदृग् दुर्लभं प्राप्य मुक्तिद्वारमचेतसः" (वह्नि पुराण शुद्धिव्रतनाम अध्यायमें देखो) ॥ अर्थ स्पष्ट है ॥

इसलिये यहां मनुष्य शब्दसे तात्पर्य्य यह है, कि जो मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर यथार्थ मनुष्य है। क्योंकि केवल शरीरमात्र मनुष्य होनेसे उसकी गणना मनुष्यमें नहीं होसकती। बहुतेरे मनुष्य देखने

+ "शतं सहस्रं लक्षं च सर्वमक्षय्यवाचकम्" इत्युक्तेः ॥ अर्थात् शत, सहस्र और लक्ष ये अनन्तके वाचक हैं। जहां अनन्त और असंख्य कहनेका प्रयोजन होता है वहां इन शब्दोंका प्रयोग कियाजाता है।

मात्र मनुष्य हैं पर वे यथार्थमें मनुष्य नहीं हैं। यदि पूर्ण विचारसे देखा जावेगा तो कोई-कोई गधा, बैल, शूकर, कूकर इत्यादिसे भी अधिक नीच हैं। जैसे चाण्डाल, राक्षस-स्वभाववाले, कुविचारी जिनको तनिक भी शुद्ध विचार नहीं है। न किसी प्रकारके भले बुरेका बोध है। केवल पशुओंके समान वे अपना पेट भरना और मल-मूत्र परित्याग करना तथा निद्रा लेना जानते हैं। उनको मनुष्यके रूपमें पशु समझना चाहिये। ऐसे मनुष्यको छोडकर, जिनमें कुछ मानुषत्व है तथा जिनमें कुछ सात्विक-बुद्धि है वे ही यथार्थ मनुष्य हैं।

इस मनुष्यके विषय भगवान १७ वें अध्यायमें कहेंगे सो देख-लेना। तहां यह दिखलावेंगे, कि **सात्विकी, राजसी और तामसी** तीन प्रकाके मनुष्य हैं। इनमें जो तामसी हैं वे भूत प्रेतकी पूजा करनेवाले हैं और जो राजसी हैं वे यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं। पर जो इनमें सात्विकी हैं वे देवताओंकी पूजा करते हैं। सो यहां **"मनुष्याणाम्"** कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य सात्त्विक मनुष्योंसे है अर्थात् अनेक अनगणित सात्त्विक मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य सिद्धिके लिये (भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिके लिये) यत्न करता है। एवम् पहले निष्काम-कर्मोंका अभ्यास करता है, जब निष्काम कर्मोंसे अन्तः-करणकी शुद्धि प्राप्त होती है तब ऐसे २ सहस्रों शुद्ध अन्तः-करणवाले मनुष्योंमें कोई स्थिर बुद्धि होकर ब्रह्मज्ञानकी सिद्धिके लिये यत्न करता है अर्थात् ज्ञानकी भूमिकाओंपर चढता और श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि प्रयत्नोंमें परिश्रम करता है। इनमें कितने तो ज्ञानकी भूमिका तथा योगके पथपर चढकर योग—भ्रष्ट

होजाते हैं जिनको फिर किसी श्रीमान् वा योगीके कुलमें जन्म लेना पडता है। इनमें कितने बार २ जन्म लेकर एक भूमिकासे दूसरी भूमिकापर चढते हैं। ऐसे अनेक चढने वालोंमें किसी-किसीकी गति सिद्ध होती है। ऐसे-ऐसे अनेकोंमें कोई एक ज्ञानकी भूमिकाओंको और योगको पूर्ण करता है। तहां सिद्ध होनेपर कितनोंको अहंकारका उदय होआता है। जिसके कारण उनको अपनी परमगतिमें विलम्ब होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः] ऐसे-ऐसे सहस्रों यत्न करनेवाले और ज्ञानकी प्राप्ति करनेवालोंमें कोई-कोई मुझको तत्त्वतः अर्थात् ठीक-ठीक मेरे यथार्थ स्वरूपको जानता है।

शंका—श्रुतिः—"न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यात्" (केनो० खं० १ श्रुति ३ में देखो) अर्थात् श्रुति कहती है कि मैं उस ब्रह्मको नहीं जानती तथा (यथा एतत्) जैसा यह है तैसा तत्त्वतः शिष्यों को नहीं जना सकती। जब श्रुतिही उस ब्रह्मको तत्त्वतः नहीं जानती तो अन्य पुरुष तत्त्वतः कैसे जानेगा? तब भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि कोई-कोई मुझको तत्त्वतः जानता है?

समाधान— इसी ग्रन्थमें पहले बार-बार कहागया है, कि श्रुति, स्मृति इत्यादि सब पराविद्या हैं इनमें तत्त्वतः जाननेकी शक्ति नहीं है अर्थात श्रुतियोंको पढकर कोई प्राणी उस महाप्रभुको तत्त्वतः नहीं जानसकता। सो नारदने बार-बार सनत्कुमारसे कहा है, कि भगवन्! मैंने सब श्रुति स्मृतियोंको पढकर भी उस आत्मज्ञानको नहीं जाना है

जिससे शोकसागरको तरसकूं और भगवान् भी अपने मुखारविन्दसे अर्जुन से कहचुके हैं, कि " त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! " हे अर्जुन! ये वेद त्रिगुणात्मक कर्मोंके ही सम्पादन करनेवाले हैं इस लिये तू " निस्त्रैगुण्य " होजा! इस वचनसे भी सिद्ध होता है, कि श्रुतियोंसे परे ब्रह्म-ज्ञान है जो केवल महात्माओंकी सेवासे प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति कहती है— " उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत " (कठो० वल्ली ३ श्रुति १४ में देखो) अर्थात् उठो! जागो! और (वरान्) आचार्य्योंको प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानको सीखो ! भगवान भी कहआये हैं, कि " परिप्रश्नेन सेवया " महात्माओंकी सेवासे और उनसे पूछनेसे तिस ब्रह्मको जानो !। क्योंकि जबतक महानुभाव इसको न बतावें तबतक केवल वेदादि अध्ययनसे यह परमतत्त्व लाभ नहीं होसकता।

श्रुतिः- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रुति २३) अर्थात् इस आत्माका वेदोंसे लाभ नहीं होता। मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि महानुभावोंके द्वारा ही वह तत्त्वतः जाना जाता है और यहां तो स्वयं वासुदेव ही ऐसे महानुभाव इस ब्रह्मतत्त्वकोसमग्र और अशेषरूपसे अर्जुनके प्रति बतानेवाले हैं फिर क्या कहना ह ?

अब दूसरी शंका यह है, कि कृष्ण भगवान्को तो सब गोकुल-वासी, मथुरानिवासी, द्वारकावासी तथा सम्पूर्ण भारतके मूर्ख, विद्वान्, दरिद्र, नरेश तथा महात्मा सभी जानते हैं फिर भगवान्ने ऐसा क्यों

कहा ? कि सहस्रोंमें कोई एक मुझको जानता है ।

उत्तर यह है, कि ये जितने जानने वाले हैं सब यही जानते हैं, कि भगवान्‌ने नन्द-यशोदाके गृहमें अवतार लेकर कंसको मारा; महाभारतमें अर्जुनकी रथवानी की, गोपिकाओंके संग रासक्रीडाकी, ग्वालबालोंका जूठन (माखन-रोटी) खाया । गोवर्धन-पर्वतको कनिष्ठिकापर उठाया, अग्निपान करगये, कालीनाग नाथा तथा कुब्जाको गति प्रदान की, अर्जुनको गीताशास्त्रका उपदेश किया इत्यादि २ । पर इतना जानना तो एक साधारण ज्ञान है इतनी बातोंके जाननेमें कोई विशेष वार्त्ता सिद्ध नहीं होती । इसलिये इतना ही जानना तत्त्वतः जानना नहीं है । यह तो उस महाप्रभुकी केवल साकार तथा प्रकट विभूतियोंका जानना हुआ, हां ! जो प्राणी इसी साकार द्वारा उस महाप्रभुके निराकार-स्वरूप और विभूतियोंको जानता है तथा निराकार और साकार दोनोंसे विलक्षण विभूतियोंको जानता है वही तत्त्वतः जाननेवाला कहा जावेगा । सो भगवान् रथपर बैठे २ अर्जुनको साकार, निराकार तथा दोनोंसे विलक्षण अपने तीनों प्रकार के स्वरूपको जनावेंगे । इसी कारण भगवान्‌ने इस अध्यायके प्रथम ही श्लोकमें अर्जुनके प्रति यह कहा, कि " असंशयं समग्रं माम् यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु " आनन्दकन्द योगेश्वर भगवान्‌के इन वचनोंसे ऐसा सिद्ध होता है, कि अर्जुनपर कृपाकर सबकुछ बतावेंगे। जिसके जाननेका फल श्रुति कहती है, कि—" तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति .... " जिसके जाननेसे प्राणी मृत्युके पार होजाता है, अमर होजाता है ॥ ३ ॥

अब भगवान् अपने समग्र स्वरूपको कहना आरम्भ करते हैं, और सबसे पहले क्या जानना चाहिये ? सो दिखलाते हैं। क्योंकि जो ज्ञान अनुक्रमके साथ न बतलाया जावे वह शीघ्र फलदायक नहीं होता।

मू०— भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— भूमिः (गंधतन्मात्रम्) आपः (रसतन्मात्रम्) अनलः (रूपतन्मात्रम्) वायुः (स्पर्शतन्मात्रम्) खम् (शब्दतन्मात्रम्) मनः (तत्कारणमहंकारः) बुद्धिः (महत्तत्त्वम्) एव, च, अहंकारः (सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तम्) इति, मे (मम) इयम्, प्रकृतिः (ममेश्वरीमायाशक्तिः) अष्टधा (अष्टभिः प्रकारैः) भिन्ना (भेदमागता) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (**भूमिः**) जो गन्धतन्मात्रा (**आपः**) जो रसतन्मात्रा (**अनलः**) जो रूपतन्मात्रा (**वायुः**) जो स्पर्शतन्मात्रा (**खम्**) जो शब्दतन्मात्रा (**मनः**) जो संकल्पविकल्पात्मक अहंकार (**बुद्धिः**) जो तिस अहंकारको स्थिर और एकत्र रखनेवाला महत्तत्व (**अहंकारः**) जो सब वासनाओंसे भरा हुआ अविद्यात्मक अव्यक्त (**इति**) यही इतनी (**मम**) मेरी (**इयम्**) यह (**प्रकृतिः**) ईश्वरी मायाशक्ति (**अष्टधा**) आठ प्रकारसे (**भिन्ना**) भेदभावको प्राप्त हुई है अर्थात् मेरी प्रकृति आठ प्रकारकी है ॥ ४ ॥

भावार्थः— भगवान् श्री कृष्णचन्द्रने अर्जुनसे मानो बिना पूछे यह प्रतिज्ञा करली है, कि मैं तुझको अशेष-रूपसे विज्ञान सहित ज्ञानको बतलाऊंगा। इसी कारण प्रथम सृष्टिकी रचनाका कारण बतलानेके तात्पर्य्यसे भगवान् कहते हैं, कि यह मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति है। सो कौन-कौन हैं ? [भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकारः] भूमि, आप, अनल, वायु, खम, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकृतियां हैं। इनमें प्रथमके पांचभूत जो हैं अर्थात् जो पांचों भूतोंकी तन्मात्रा हैं ये एकवारगी जड हैं। क्योंकि इनमें क्रिया-शक्ति तो है पर ज्ञान-शक्ति नहीं हैं। जैसे किसी पाक करनेके लिये चूल्हेपरे एक हांडी वा पतीली रखकर नीचे अग्नि बालदो और उसमें चांवल छोडदो तो इसमें सन्देह नहीं, कि वह आग चावल पका देवेगी पर थोडी देर उसी प्रकार छोडदेनेसे सबको जलाकरे भस्म भी कर देवेगी। क्योंकि उस आगमें पका देने तथा जला देनेकी शक्ति तो है पर यह ज्ञान नहीं है, कि अब चावल पक गया होगा, अब इसे मत पकाओ, अपनी ज्वालाको रोकलो। ऐसा तीनकालमें भी स्वयं आग नहीं करसकती जबतक एक चेतन मनुष्य चावल पकानेवाला पाचक वहां बैठकर देखता न रहे। तात्पर्य्य यह है कि जड पंचभूतोंमें क्रिया करनेकी शक्ति है पर चेतनता जो ज्ञान-शक्ति सो नहीं है। इसी कारण इनको अपरा प्रकृति कहते हैं। अब आठों प्रकृतियोंमें मन, बुद्धि तथा अहंकार जो तीन रहे ये भी चैतन्य अर्थात् ज्ञानशक्तिवाले तो नहीं हैं पर इनपर चैतन्यका बिम्ब पडरहा है इसलिये चेतनके समान भासते हैं। जैसे सूर्यका बिम्ब घटपर पडनेसे घटका जल प्रकाशयुक्त देखपडता है।

इसलिये मन, बुद्धि और अहंकार चेतनके समान भासते हैं पर चेतन नहीं हैं। जैसे कलका बनाहुआ पक्षी पर भी मारता है, चीखता, चिल्लाता और गाता भी है पर यथार्थमें वह गानेवाला नहीं है। जैसे इन दिनों फोनोग्राफ (Phonograph) जो नाना प्रकारके गीतोंको गाता है, सुरीली मधुरध्वनिसे सुननेवालोंको प्रसन्न भी करता है पर चेतन नहीं। इसीलिये जबतक चेतन प्रकृति इनकी सहायता न करे तबतक इन आठों प्रकृतियोंसे कोई कार्य्य सिद्ध नहीं होता।

इतना तो अवश्य है, कि इन पंचभूतोंके द्वारा इस शरीरमें सारी रचनाएँ बन रही हैं, जो यहां दिखलायी जाती है- " सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पंचभूतविवेकतः। बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥" (पंचदशी. प्रक २ श्लो० १) सत्यरूप एक अद्वितीय ब्रह्म इस ब्रह्माण्डका कारण है, सो मन, बुद्धि और वाणीसे परे है, अर्थात् इनसे जाना नहीं जाता इसलिये उसके कार्य्यों द्वारा अर्थात् पंचभूतोंके विवेक द्वारा उसको अनुभवमें लासकते हैं। अतएव उसके कार्य्य (पंचभूतों) की विवेचना कीजाती है-" शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे। एकद्वित्रिचतुः पंच गुणा व्योमादिषु क्रमात ॥ प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीति शब्दनम्। अनुष्णाशीतसंस्पर्शौ वह्नौ भुगभुगुध्वनिः। उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलबुलुध्वनिः। शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्य्यमीरितम ॥ भूमौ कडकडा शब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते। नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥ सुरभीतर गन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः। श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा

घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् ॥" (पंचद० प्रक० २ श्लो० २, ३, ४, ५, ६)

अर्थ— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये ही पंचभूतोंके पांच गुण हैं। अब इन गुणोंकी पंचभूतोंमें किस प्रकार स्थिति है? सो कहते हैं— आकाशमें केवल एक शब्द गुण है। पवनमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण हैं। जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं। पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचों गुण वर्त्तमान हैं। आकाशमें जो शब्द है वह ध्वनिरूप है।

इसी प्रकार वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं तहां शब्द तो ध्वन्यात्मक नहीं है, वीसी, सीसी, ऐसे शब्द जानपडते हैं और स्पर्श इसका अपना गुण है सो अनुष्णाशीतरूप है अर्थात् न उष्ण है न शीत है। पवनके विषय जो उष्णता (गर्मी) प्रतीत होती है सो अग्निके सम्बन्धसे और जो शीतलता प्रतीत होती है वह जलके सम्बन्धसे होती है। वायु स्वयं न उष्ण है न शीतल है। अब अग्निके विषय जो शब्द है सो भुगु २ शब्द है और अग्निमें स्पर्श जो है वह उष्ण है और तिस अग्निका स्वयं *शुक्लरूप है। जलमें चुलु—चुलु वा वुलु—वुलु शब्द है, शीत-

* जलका शुक्ल रूप परायी किसी वस्तुको प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं है। पर तेज जो अग्निका शुक्ल रूप है वह परायी वस्तुको प्रकाश करनेमें समर्थ है। इस जल और अग्निके शुक्ल रूपमें इतना ही भेद है।

स्पर्श है, शुक्ल रूप है, और मीठा रस है। पृथ्वीमें कड-कड शब्द है, कठिनता-स्पर्श है तथा अरुण, कृष्ण, पीत इत्यादि अनेक प्रकारके रूप हैं और खट्टे मीठे इत्यादि अनेक प्रकारके रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकारके गन्ध हैं, पवन और जलमें जो कभी २ गंधकी प्रतीति होती है सो पृथ्वीके सम्बन्धकरके होती है वास्तवमें जल और पवनमें गन्ध नहीं है। इस प्रकार पंचभूतोंके गुणकी विवेचना करनी चाहिये।

अब इनके गुणोंका वर्णन करके इनके कार्य्योंका वर्णन कियाजाता है— श्रोत्र (कान) त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नाक ये पांचों इन्द्रियां इन पंचभूतोंके कार्य्य हैं। आकाशसे श्रोत इन्द्रिय (कान) वायुसे स्पर्श अर्थात् त्वचा, अग्निसे नेत्र, जलसे जिह्वा इन्द्रिय और पृथ्वीसे घ्राण इन्द्रिय (नाक) उत्पन्न होती है। ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। फिर इन ही पांचों भूतोंके कार्य्य कर्मेन्द्रियां भी हैं अर्थात् वाक् ,हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। तहां आकाशसे वाक्, वायुसे हाथ, अग्निसे पांव, जलसे उपस्थ (लिंग) और पृथ्वीसे गुदा (मलपरित्याग-करनेकी इन्द्रिय) एवम्प्रकार इन पांचों भूतोंके गुण और कार्य्य फैलेहुए हैं।

अब रहे तीन मन, बुद्धि और अहंकार इनका भी वर्णन किया जाता है—

मन:— " मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्। तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः " (पंच० प्र० २ श्लोक १२)

अर्थ—मन दशों इन्द्रियोंका अध्यक्ष अर्थात् इंद्रियोंका राजा है। इसलिये इंद्रियोंका प्रेरक है। इस मनका नाम अन्तःकरण है क्योंकि विना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके किसी पदार्थके जानने वा किसी कियाके करनेको समर्थ नहीं है। इसीलिये दशों इंद्रियोंको बाह्य करण कहते हैं और मनको अन्तःकरण कहते हैं। ऐसे ही बुद्धि और अहकार भी अन्तःकरण ही हैं। मनका कार्य है, कि इंद्रियोंके एकत्र कियेहुए विषयोंको जाने। जैसे राजा अपने भृत्योंके द्वारा अपने सम्पूर्ण राज्यका वृत्तान्त महलमें बैठे-बैठे जानलेता है। इसी प्रकार मन-रूप राजा सम्पूर्ण शरीरके वृत्तान्तको हृदयके महलमें बैठाहुआ जानलेता है। तहाँ बुद्धि रूप अन्तः करण जो मनके साथ बैठा हुआ है सो मनका मंत्री है भले बुरे दोनोंको यह मन इंद्रियोंके द्वारा इकट्ठा करलेता है। तहाँ बुद्धि उनके करने न करनेकी विवेचना कर समझा देती है, कि अमुक कार्य करने योग्य है वा नहीं है। अहंकार मन और बुद्धिसे एकत्र करवाये हुए इन सब कार्योंको स्मरण रखता है। अर्थात् सौ वर्ष पहिले जो किसी प्राणीकी जान मारी थी वह मारनेवालेके अन्तःकरणमें स्मरण है, तिस स्मृतिका कारण अहंकार है। यदि अहंकार न हो तो कोई बात प्राणीको स्मरण न रहे, सब करता जावे और भूलता चला जावे। सो ऐसा नहीं होसकता। विद्यार्थीने जो विद्या गुरु द्वारा उपार्जन की है और सैकडों ग्रन्थोंके श्लोक और उनके अर्थ फिर सहस्रों श्रुति स्मृतियोंके उपदेश जो स्मृतिमें रखे हैं उनका कारण अहंकार ही है। परमात्माने भी जब सृष्टि करनेकी इच्छा की तब पहले अहंकार ही को स्वीकार किया। अर्थात् अपनी शक्तियोंकी

स्मृतिको आगे रखलिया जिससे मनका स्वरूप तयार होगया। तिस मनके द्वारा ईक्षण करके "तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम" ऐसे कहा, कि एक मैं हूँ बहुत होजाऊं क्योंकि "एकाकी न रमते" इस बृहदारण्यककी श्रुतिके अनुसार अकेले रमण नहीं होसक्ता। इसी कारण उस महाप्रभुने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। तिसकी इच्छामात्रसे ही महत्तत्व, अहंकार, मन तथा पांचों भूतोंकी तन्मात्रा इत्यादि सब उत्पन्न होगयीं। तहां श्रुतिका प्रमाण है "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायो रग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्ति० ब० २ अनु० १) अर्थ— तिस आत्मासे उसके ईक्षण द्वारा पहले आकाश उत्पन्न हुआ आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।

मनुने भी कहा है, कि "मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः। आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः। बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥ वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्। ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥" (मनु० अ० १ श्लो० ७५ से ७८ तक)

अर्थ—सृष्टिकी इच्छासे जो प्रेरित तत्त्व उसीको महत्तत्त्व कहते हैं— सो तिससे आकाश उत्पन्न हुआ तिसका शब्द गुण हुआ अब

उस आकाशके विकारवान् होनेसे सर्व प्रकारके सुगन्ध दुर्गन्धका लेचलने वाला पवित्र तथा वृक्षादिकोंको उखाड डालनेवाला बलवान् वायु देव उत्पन्न हुआ। जिसका गुण स्पर्श माना गया है। फिर वायुके भी विकारवान् होनेसे परप्रकाशक तथा तमका नाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप तेज (अग्नि) उत्पन्न हुआ। उसका गुण रूप कहा जाता है। फिर तिस तेज (अग्नि) के विकारवान होनेसे रस गुण वाला जल उत्पन्न होता है। और उस जलसे गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। एवम प्रकार आदिसे लेकर अन्ततक भूतोंकी सृष्टि समाप्त होती है।

अब यहां मनुके वचनसे देखा जाता है, कि प्रत्येक तत्त्वोंमें विकारके होनेसे अगला तत्त्व तयारे हुआ है, सो विकार कैसे होता? और क्या होता है? वर्णन किया जाता है—

यह सिद्धान्त—वचन है, कि ब्रह्माण्डमें जितनी वस्तुकी सृष्टि होती है बिना किसी प्रकारके विकारके नहीं होती। विकार कहते हैं वस्तुके स्वरूपके आविर्भाव और तिरोभावको अर्थात् जब कुछ बनता वा विनशता है सो ही विकार है। सो दो वस्तुओंकी रगडसे एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है। जैसे दो काष्ठोंकी रेगडसे आग उत्पन्न होती है। यहां दो लकडियोंकी रगडसे ही विकार होता है। आदिमें परमात्माने भी रेगडहीसे सृष्टि उत्पन्न की है प्रमाण— "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपात-

यत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः"
(बृहदा० अ० १ ब्राह्म० ४ श्रु० ३ में देखो)

अर्थ— जब एकाकी परमात्माको अपनी विभूतियोंके साथ रमनेकी इच्छा हुई, जैसे प्रत्येक चक्रवर्त्ती राजा महाराजा सायं प्रातः रमनेकी इच्छा कर बडे—बडे बनोंमें तथा नदियोंके तटपर बिहार करने जाते हैं अर्थात् अपने ऐश्वर्यमें आप रमते हैं। इस प्रकार जब परमात्माने रमनेकी इच्छा की तब दूसरेकी आवश्यकता पडी क्योंकि अकेला कोई रमण करे नहीं सकता, इसीसे रमनेवाला सदा दूसरेकी इच्छा करता है इसलिये परमात्माने दूसरेकी इच्छाकी। पर दूसरा आवे कहांसे- ब्रह्म तो एकही है। दो का तो कहीं नाम भी नहीं है ' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ' "नेह नानास्ति किञ्चन" अर्थात् एक ही ब्रह्म अद्वितीय है दूसरा कहीं कुछ नहीं है। तब उस महाप्रभुने " द्वितीयमैच्छत " दूसरेकी इच्छा की जैसे स्त्री-पुरुष दो स्वरूप हैं एक साथ मिले होते हैं। इसी प्रकार उस महाप्रभुने दो प्रकारके स्वरूप उत्पन्न किये। अर्थात् अपनेको आपमें रगडनेसे पति और पत्नी दो स्वरूप प्रकट हुए। जैसे एक किसी नाजका बीज पृथ्वीमें डालनेसे उसमें फूटकर दो दाल होजाते हैं। इसी प्रकार पुरुष और पत्नी दो स्वरूप होगये अर्थात् पुरुष और प्रकृति दो स्वरूप हुए अतएव इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इसी कारण सृष्टिको ब्रह्मसे कहो अथवा अव्याकृत प्रकृतिसे कहो दोनोंका एक ही तात्पर्य्य है इसलिये यह सर्व-सिद्धान्त है, कि प्रकृतिसे सृष्टि होती है सो दो प्रकारकी है। इन दोनोंको भगवान् दो श्लोकोंमें कथन करते हैं।

इस श्लोकमें अपरा प्रकृति कहरहे हैं और अगले श्लोकमें परा प्रकृतिका कथन करेंगे ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ प्रकृतियां अपरा हैं, जड हैं, सो पहले कहआये हैं । मन, बुद्धि, अहंकार भी जो स्वयं जड स्वरूप हैं इनपर चैतन्य आत्माका बिम्ब पडता है। इसलिये चैतन्यके समान देखेजाते हैं। इसलिये इनकी चेष्टा अपनी चेष्टा नहीं है इन सबोंको केवल एक आत्मासे चेष्टा करने की शक्ति मिलती है ।

अब यहां शंका यह है, कि भगवान्‌ने तो अर्जुनसे उपासना-काण्ड आरम्भ करतेहुए यह प्रतिज्ञा की है, कि " असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु " निस्सन्देह मेरे समग्र स्वरूपको जिस प्रकार जान सकेगा हे अर्जुन ! सो सुन ! पर अपना स्वरूप न कहकर सब से पहले प्रकृतिका वर्णन करने लगगये । ऐसा क्यों ?

उत्तर इसका यह है, कि जब कोई किसीको समग्र जानना चाहता है तो उसके ऐश्वर्य्य, नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव इत्यादि को विलग-विलग जाननेकी इच्छा करता है । जैसे देवदत्तने यज्ञदत्त से पूछा, कि तुम्हारा नाम क्या है ? कहांके निवासी हो ? कौन-कौन विद्या तुमने सीखी हैं ? आज कल कौन व्यवसाय करते हो ? इत्यादि, इसके उत्तरमें उसने सब कुछ अपना वृत्तान्त बतादिया तो जानने वाला उसको समग्र रूपसे जानगया । इसी प्रकार भगवान् अपनेको समग्र जनानेके तात्पर्यसे अपने ऐश्वर्योंको वर्णन करतेहुए प्रथम अपनी प्रकृतियोंका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

अब भगवान् अपनी अपरा (जड) प्रकृतिका वर्णन समासकर परा (चैतन्य) प्रकृति का वर्णन करते हैं—

मू०— अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः [हे] **महाबाहो ! इयम्** (अष्टधोक्ता या प्रकृतिः) **तु, अपरा** (निकृष्टाऽशुद्धाऽनर्थकरी संसारबन्धनात्मिका) **इतः, अन्याम्** (विलक्षणाम्) **जीवभूताम्** (चेतनलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूताम् चेतनात्मिकां वा) **मे** (मम) **प्रकृतिम्, पराम्** (प्रकृष्टाम् । विशुद्धाम) **विद्धि** (जानीहि) **यया** (जीवभूतयाऽन्तरानुप्रविष्टया) **इदम्, जगत्** (स्थावरजंगमशरीरात्मिका सृष्टिः) **धार्यते** (स्वतो विशीर्यज्जगदचेतनवर्गो विष्टभ्यते) ॥ ५ ॥

पदार्थः— [हे] (**महाबाहो**) विशालभुजावाला अर्जुन ! (**इयम्**) ये जो मेरी आठ प्रकारकी पूर्वोक्त प्रकृतियां हैं (**तु**) वे तो (**अपरा**) निकृष्ट हैं (**इतः, अन्याम्**) इनसे दूसरी (**जीवभूताम्**) जीव स्वरूप (**मे, प्रकृतिम्**) मेरी प्रकृतिको (**पराम्**) अत्यन्त श्रेष्ठ (**विद्धि**) जान (**यया**) जिसके द्वारा (**इदम्, जगत्**) यह जगत् (**धार्यते**) स्थिर है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपनी परा प्रकृतिका वर्णनकरते हुए कहते हैं, कि [**महाबाहो!**] हे विशाल भुजावाला अर्जुन! मैंने तुमसे जो पहले आठ प्रकृतियोंका वर्णन किया [**अपरेयम्**]

यह मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट, अशुद्ध, अनर्थकी करनेवाली और संसारके बन्धनमें डालने वाली प्रकृति है । यदि शंका हो, कि भगवान् ऐसा कहते हैं, कि यह मेरी प्रकृति है फिर अपनी प्रकृतिको अशुद्ध तथा अनर्थकरी और बन्धनमें डालनेवाली क्यों कहते हैं? निकृष्ट क्यों कहते हैं ? क्योंकि मीठासे मीठा, अमृतकुण्ड से अमृत, विषके कुण्डसे विष निकलता है । फिर जो स्वयम् शुद्ध निर्मल और सर्व प्रकार श्रेष्ठ है उससे निकृष्ट, अशुद्ध और दुःखदायी वस्तु कैसे उत्पन्न होगी ? इसलिये इन तत्त्वोंको निकृष्ट अशुद्ध कहना नहीं बनता । क्योंकि ये तो परम पवित्र देख पडते हैं । आकाशकी ओर देखो ! यह कैसा निर्मल और स्वच्छ है, जब वायु इस आकाशमें नीले, श्याम, श्वेत, हरे, काले और लाल बादलोंको लेकर चलती है तो चित्तको कैसा सुख और प्रसन्नता प्राप्त होती है ? इसी प्रकार वायु जिस समय शीतल, मन्द, सुगन्ध होकर किसी मार्गके थकेहुए पथिकके शरीरमें लगे तो कैसी सुखदायी होगी ? एवम् प्रकार शीतकालमें आग किस प्रकार आनन्द-दायक है ? फिर नाना प्रकारके पक्वान्नोंको पकाकर भोजनमें कैसी प्रसन्नता प्राप्त कराती है ? पिपासाके समय एक स्वच्छ पात्रमें निर्मल गंगाजल वा शीतल यमुनाजल तथा किसी अन्य सर, सरिता, वापी, कूप, तडागका जल पीनेको मिलजावे तो वह कैसा शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ और सुखदायी होता है ? पृथ्वीकी ओर देखो ! नाना प्रकारसे मल-मूत्रत्यागके पश्चात् केवल वह मिट्टी ही है, जिससे अंगोंको निर्मल करते हैं । फिर वही पृथ्वी है जो नाना प्रकारके नाजोंको उत्पन्न कर खिलाती है, फिर यही पृथ्वी जिसके

आधीन रहती है वह भूपति वा नरेश कहलाता है। इन सुखदायी तत्त्वोंको निकृष्ट और अशुद्ध कहना बनता नहीं ?

उत्तर इसका यह है, कि वस्तुतस्तुकी स्वच्छताकी अपेक्षा इनको अशुद्ध नहीं कहाजाता। शरीरकी ओर अपने स्वार्थवश प्रपंचकी अपेक्षा अशुद्ध और दुःखदायी हैं। क्योंकि इन पाचों भूतोंके मेलसे जो यह शरीर रचागया पहले उसकी ओर देखो! कैसा निकृष्ट, अशुद्ध और दुःखदायी है ? इन्हीं पंचभूतोंके कारण कफ, पित्त, वायु इत्यादि का संयोग इस शरीरको हुआ है जिनके द्वारा आध्यात्मिकतापकी वृद्धि होती है। ज्वर, खांसी, जलोदर, गुल्म, कुष्ट, उन्माद इत्यादि सहस्रों प्रकारके भयंकर रोग इन्हीं तत्त्वोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं। पानीमें गलजाना, अग्निमें जलजाना, वायुसे सूखजाना इत्यादि कैसे भयंकर और दुःखदायी कार्य हैं ?

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि ये जडतत्त्व अपने जडत्वके कारण यह विचार नहीं करसकते, कि यह ब्राह्मणकी पोथी है वा वेदका ग्रन्थ है इसको न गलाऊं वा न जलाऊं वा न उडाऊं। क्योंकि इनमें जो शक्ति है वह निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं अर्थात् ये पांचों अपनी शक्तिके प्रवाहमें किसीकी अपेक्षा नहीं रखते सो चौरासीलक्ष योनिमात्र इन तत्त्वोंके कारण नाना प्रकारके दुःख झेल रेहे हैं। देखो ! पुत्र, कलत्र इत्यादि जो इन ही आठ प्रकृतियोंके मेलके पुतला पुतली हैं। जिनके बिछुड जानेसे प्राणी कितना रोता और कराहता है।

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि शरीरकी अपेक्षा तो ये प्रकृतियां सुखदायी और दुःखदायी दोनों हैं पर आत्मानन्द तथा ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें तो ये दुःखदायी ही हैं। क्योंकि बन्धनके कारण हैं और प्राणी शुभा-शुभ कर्मोंके फलोंको इनहीके द्वारा भोगता है।

जैसे कोई चक्रवर्त्ती नरेश दूषितकर्म करनेवाली प्रजाओंके दण्डकेलिये निगड, शृंखला (हाथ पांवकी बेडी) शूली फांसीके बल्ले, वेत्र (वेत) इत्यादि बनाकर कारागारमें रखदेता है। इसी प्रकार संसाररूप कारागारमें दूषितकर्म करनेवाले प्राणियोंको बांधनेकेलिये ये आठों प्रकृतियां निगड (बेडी) शूलीके बल्ले इत्यादिके समान हैं। इसी कारण मायाग्रस्त प्रपंचमें मग्न प्राणियोंकेलिये ये अवश्य दुःखदायी हैं, इसलिये इनको निकृष्ट, अशुद्ध और बन्धनका कारण कहा। नहीं तो ये शुद्धब्रह्मके विभव हैं, ये कदापि अशुद्ध और निकृष्ट नहीं होसकते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्] इन आठोंसे विलक्षण तू मेरी परा प्रकृतिको जान! अर्थात् मेरी दूसरी प्रकृति परा नामसे पुकारी जाती है। जो श्रेष्ठ है और निर्म्मल है। जिसमें किसी प्रकारका दुःख नहीं न किसी प्रकारका संसार-बन्धन है वरु वे जो मेरी आठ प्रकृतियां हैं उनको भी अपने संगसे शुद्ध और निर्म्मल करनेवाली है अर्थात् जो अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा इन आठों जड प्रकृतियोंसे जहां जैसी उचित चाहिये कामलेती है। किसीको तितर-बितर नहीं होने देती। जैसे एक ग्लास पानीमें अमृतकी

एकबूंद डालदो तो सारा ग्लास अमृत होजावेगा । इसी प्रकार आठ अपरा प्रकृतियोंमें परा प्रकृतिके मिलजानेसे ज्ञानशक्तिके कार्य होने लगते हैं । सूर्य, चन्द्र प्रकाश करने लगजाते हैं । और वे केवल १२ घण्टे अर्थात् चार पहर पृथ्वीके एक ओर और चार पहर दूसरी ओर प्रकाश करते हैं । यदि इनमें किसी इनसे श्रेष्ठ प्रकृतिकी मात्रा नहीं मिलीहोती तो ये जहां ऊगते वहां ही ठहरे रहते अथवा बच्चोंकी गेंदके समान इधर-उधर लुढकते फिरते । पृथ्वी-मण्डलमें अन्धकार और प्रकाशका अनियम होजाता । इसी कारण भगवानने अपनी दूसरी प्रकृतिको **परा** कहा है अर्थात् सबोंसे उत्कृष्ट कहा है ।

अब वह परा प्रकृति कैसी है ? सो कहते हैं, कि **[जीवभूताम् महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्]** जीवात्मिका है और इसीके द्वारा यह सारा जगत् धारण कियाजाता है अर्थात् जिसके द्वारा इन पंचभूतोंसे जो चौरासी लक्ष प्रकारके पिण्ड बनते हैं वे चलने फिरने लगते हैं, इसी कारण इसको **जीवभूता** कहा । क्योंकि यह जीवभूता प्रकृति जबतक गर्भस्थित पंच-भूतके पिण्डमें नहीं प्रवेश करती तबतक प्राणोंका स्फुरण गर्भपिण्डमें नहीं होता। जभी यह जीवभूता प्रकृति प्रवेश करती है, प्राणोंके साथ पांचों कर्मेन्द्रियां और पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार सब अपना-अपना कार्य्य करने लगजाते हैं और जबतक यह जीवभूता प्रकृति इस पिण्डके साथ वर्त्तमान रहती है तबतक यह जीवित रहता है । इसके छोडदेनेसे मृतक होजाता है । इसी मेरी परा प्रकृ-तिको मेरी आत्मभूत प्रकृति जानो ! तहां श्रुतिका भी वचन है, कि

" अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि "
अर्थ— इसी जीवात्मभूत-रूप प्रकृतिसे जगत्के भीतर प्रवेश करके मैं नाम रूपको विस्तार पूर्वक प्रकट करूं ऐसा संकल्प करके इसी जीवभूता प्रकृतिसे ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तकी सृष्टिमें देव, किन्नर, गन्धर्व, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, नदी, नद, वन, पर्वत इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंको जो मेरेमें स्थित हैं वहिर्मुख करे प्रकट करता हूं इसीको सृष्टिकी रचना कहते हैं। इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " ययेदं धार्य्यते जगत् " जिस प्रकृतिसे यह सारा जगत् अपने नाम रूपमें वर्त्तमान है। तात्पर्य्य यह है, कि भगवानकी जो दो प्रकारकी अपरा और परा प्रकृतियां हैं इन दोनोंमें एकसे तो सारी पांच-भौतिक सृष्टि आकाशसे पाताल पर्य्यन्त प्रकट रूपसे देखी जाती है क्योंकि सूर्य्य, चन्द्र, तारा गणसे लेकर सागर और पर्वत पर्य्यन्त जो प्रकट दृश्य आते हैं सब अपरा प्रकृतिके कार्य्य हैं। और परा प्रकृति प्रकट रूपसे देखी नहीं जाती पर गुप्त रूपसे सबके अन्तर प्राण होकर प्रवेश किये हुई है। इसी कारण एक प्रकट और एक गुप्त है। सो इस अपरा प्रकृतिने प्रकट होकर बड़े २ बुद्धिमानोंकी बुद्धिको अपनी ओर इतना खींच रखा है, कि वे परा प्रकृतिको न मानकर इस चलने, फिरने, बोलने, हँसने, रोने, उठने, बैठने, जागने, तथा सोनेके व्यवहारको इस अपराका ही कार्य्य अर्थात् इन पंच-भूतोंहीके मेलका परिणाम बताते हैं। अर्थात् यों कह पड़ते हैं, कि जीव अथवा आत्मा कहीं कुछ नहीं है। केवल पांचों तत्त्वोंके मेलसे एक शक्ति प्रकट होती है जो हँसने, बोलने, उछलने और कूदने लगती है

पर ये पोच बातें हैं ।

इसी जीवभूता प्रकृतिको क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं (जिसका वर्णन भगवान् १६ वें अध्यायमें करेंगे) अर्थात् क्षेत्र जो यह शरीर जिसमें पाप पुण्य रूप बीजकी खेती होती है, तिस क्षेत्रका जाननेवाला प्रधान यह जीव है । पर बुद्धिमानोंको चाहिये, कि जीवात्मा और आत्मा को एक सामान न समझें । दोनोंमें इतना भेद है, कि इस क्षेत्रमें आत्मा केवल साक्षीरूप है और **जीवात्मा** कर्मोंको करनेवाला और भोगनेवाला है । जिसके विषय श्रुति कहती है, कि "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते** ………) अर्थात् जीव और आत्मा (ब्रह्म) दोनों सखा रूप दो पक्षी एक शरीररूप वृक्षपर मिलेहुए हैं इनमें एक करता और भोगता है तथा दूसरा केवल साक्षी-रूप है । फिर ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्डमें लिखते हैं— " **जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च** " अर्थात् यह जीव कर्मफलका भोगनेवाला है पर आत्मा निर्लेप है । क्योंकि " **आत्मनः प्रति-बिम्बश्च देही जीवः स एव च । प्राणदेहादिभृद्देही स जीवः परिकीर्त्तितः** " अर्थात् आत्माका जो प्रतिबिम्ब इस अपरा प्रकृतिमें पडरहा है वह देही और जीव कहलाता है, सो प्राण और देह सहित इन्द्रियोंका धारण करने वाला है इसी कारण उसको जीव कहते हैं । " **वेदान्तमते घटावच्छिन्नाकाशवत् शरीरत्रितया-वच्छिन्नं चैतन्यम । केषाञ्चिन्मते दर्पणस्थमुखप्रतिबिम्बवद् बुद्धिस्थचैतन्यप्रतिबिम्बम्** " अर्थात् वेदान्तके मतमें जैसे घटसे अवच्छिन्न अर्थात् घडेमें घिराहुआ आकाश रहता है । इसी प्रकार

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरोंसे अवच्छिन्न जो चैतन्य उसे जीव कहते हैं। किसी २ के मतमें ऐसा है, कि जैसे दर्पणमें मुखकी छाया पडती है इसी प्रकार बुद्धिमें जो चैतन्यकी छाया पडती है वही जीव है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यह जो जीवभूता प्रकृति हैं यही दुःख सुखको भोगनेवाली हैं। सब पाप पुण्यको करते रहना और भोगते जाना इसीका काम हैं पर इसको शुद्ध और उत्कृष्ट कहनेका कारण यह हैं, कि जब ज्ञानका प्रकाश होता है तो यही चैतन्य-बिम्ब अपने यथार्थ स्वरूप अर्थात् आत्माकार-वृत्तिको स्वीकार कर मोक्षके प्राप्त करलेनेको समर्थ होजाता है ॥ ५ ॥

अब अगले श्लोकमें भगवान् अपनी इन ही दो प्रकृतियों द्वारा अपनेको सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और संहारका कारण बतावेंगे—

मू०— एतद्योनीनि भूतानि सर्व्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— सर्व्वाणि (निखिलानि) भूतानि (चेतनाचेतनात्मकानि चतुर्विधानि भवनधर्मकाणि) एतद्योनीनि (एते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृतियोनिकारणभूते येषां सर्वेषां जरायुजाण्डज-स्वेदजादीनां भूतानां तानि) इति, उपधारय (जानीहि) अहम् (वासुदेवः) कृत्स्नस्य (समस्तस्य) जगतः (जडाजडरूपस्य) प्रभवः (उत्पत्तिकारणम्) तथा, प्रलयः (विनाशकारणम् लयस्थानम् वा) [अस्मि] ॥ ६ ॥

पदार्थः— (सर्वाणि) सब (भूतानि) जडचेतन पदार्थ जो जगत्में देखपडते हैं (एतद्योनीनि) इनही दोनों अपरा और परा प्रकृतिसे उत्पन्न हैं (इति, उपधारय) ऐसा जान! क्योंकि (अहम्) मैं सर्वेश्वर वासुदेव (कृत्स्नस्य) सम्पूर्ण (जगतः) जगतका (प्रभवः) उत्पत्तिका कारण तथा (प्रलयः) नाशका कारण हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब भगवान यह दिखलाते हैं, कि मैं अपनी इनही दोनों प्रकृतियों द्वारा समस्त जगत्की उत्पत्ति और नाशका कारण होताहूँ। इसलिये कहते हैं, कि [एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणी त्युपधारय!] जगत्के सभी जड वा चेतन पदार्थ इनही परा और अपरा प्रकृतियोंसे उत्पन्न हैं। अर्थात ये जितने स्थावरजंगमात्मक द्रव्य हैं। सब इनही दो प्रकृतियों द्वारा स्थिर हैं। इन प्रकृति-जन्य द्रव्योंके विस्तारकी ओर यदि कोई बुद्धिमान् अपनी बुद्धिको इनका थाह लानेको भेजदेवे तो वह बुद्धि सहस्रों युग पर्य्यन्त ऊब डूब करती रहजावेगी पर इन द्रव्योंके विस्तारका पता लगाना कठिन है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि यह कहावत चरितार्थ होजावेगी, कि " गयी पूतली लवणकी थाह सिन्धुको लैन। गलत २ पानी भयी लौटि कहै को बैन " तात्पर्य्य यह है, कि जिस किसी एक रचनाकी ओर बुद्धि जावेगी, जाते २ वहाँ तन्मय होकर रहजावेगी, लौटकर इनके प्रमाणके कहनेको समर्थ नहीं होगी। देखो! केवल एक तारागणकी रचनाकी ओर यदि दृष्टि दीजावे और कोई चाहे, कि मैं इनकी गणना करके बतादूं, कि कितने तारा

हैं तो कदापि संभव नहीं है, कि इनका कुछ भी प्रमाण मिलसके। इसी प्रकार अन्य सर्वप्रकारके द्रव्योंके विस्तारके विषय भी जानना चाहिये। देखो! चौरासीलक्ष योनियोंकी जो गणना है सो बुद्धिमानोंने एक विशेष अंकको केवल सर्व साधारणके बोधमात्रकेलिये रखदिया है नहीं तो चौरासीलक्षसे शास्त्रका तात्पर्य्य अनगिनत योनियोंके कहनेका है ।

शंका— चौरासीलक्ष योनियोंसे अनगिनत योनियोंके कहनेका तात्पर्य्य होता तो शास्त्रने ऐसा क्यों किया ? कि प्रत्येक योनियोंकी गणनाका प्रमाण अलग २ देकर कहा । जैसे गरुडपुराण प्रेतकल्प अ० २ में लिखा है, कि " एकविंशतिलक्षाणि ह्यण्डजाः परिकीर्त्तिताः । स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिज्जास्तत् प्रमाणतः ॥ जरायुजाश्च तावन्तो मनुष्याद्याश्च जन्तवः । सर्वेषामेव जन्तूनां मानुषत्वं सुदुर्लभम् ॥ " अर्थात् २१ लक्ष अण्डज हैं और उतने ही स्वेदज (ऊष्मज) हैं तथा उतने ही उद्भिज्ज (स्थावर) हैं तथा उतने ही जरायुज (पिंडज) हैं ।

फिर वृहद्विष्णु पुराणके मतानुसार कहते हैं—

" जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः ।
कृमयो रुद्रसंख्याकाः पक्षिणां दशलक्षकम् ॥
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः "

अर्थ— नव लक्ष तो जलके जीव हैं, बीस लक्ष स्थावर हैं तथा स्वेदज जो कीडे हैं वे ग्यारह लक्ष हैं, पक्षी दश लक्ष हैं, तीस लक्ष पशु हैं और चार लक्ष मनुष्य हैं ।

फिर कर्मविपाकके मतानुसार—

"स्थावरास्त्रिंशल्लक्षाश्च जलजो नवलक्षकः। कृमिजा दश लक्षाश्च रुद्रलक्षाश्च पक्षिणः॥ पशवो विंशलक्षाश्च चतुर्लक्षाश्च मानवाः।" (अर्थ स्पष्ट है)

उत्तर— ये जो प्रमाण दियेहुए हैं इनमें भिन्न २ ग्रन्थोंके मतसे भेद पाया जाता है। इनकी संख्यामें बुद्धिमानोंकी एक सम्मति नहीं देखी जाती। इसी कारण अनुमान होता है, कि किसीको ठीक २ यथार्थ रूपसे इन योनिओंका पता नहीं लगा। इसीलिये इनमें भेद होता है।

यदि कोई बुद्धिमान् चाहे, कि मैं इनकी संख्या ठीक २ लिखूं तो ऐसा कदापि नहीं होसकता, सो पहलेही कहागया है। पर एक बात इसमें अवश्य ध्यान देने योग्य है, कि यद्यपि चार खानिके जीवोंकी गणनामें भेद है, पर सब मिलकर चौरासी ही होते हैं, न ८३ हैं न पचासी हैं।

शंका— यदि केवल बहुत संख्या कहनेका ही तात्पर्य्य होता तो सर्वशास्त्रकार चौरासी हीं क्यों कहते ८५ वा ८८ वा ६० वा ६४ वा ५० इत्यादि संख्याओंको भी तो कह सकते थे।

समाधान— चारे खानिके जीवोंकी उत्पत्तिमें तीनों गुणोंका प्रवेशहै क्योंकि जिन प्रकृतियोंकी ये रचनाएँ हैं वे रज, सत्व और तम तीन गुणवाली हैं। फिर प्रत्येक खानिमें तीन २ प्रकारकी रचनाएँ बनी हैं— जैसे जरायुजोंमें पशुओंकी ओर विचार करनेसे यह बोध होगा, कि

बहुतेरे पशु सात्विक हैं, बहुतेरे राजस हैं और बहुतेरे तामस हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान् चारों खानिके जीवोंमें समझ लेवें। मनुष्योंमें जो सुन्दर स्वरूपवान् और देवताओंके सदृश स्वभाव वाले हैं, वे सात्त्विक हैं और जो राक्षसी स्वभाव वाले तथा कुरूप और अधिकांग हैं, वे सब तामसी हैं। शेष सब रजोगुणी हैं।

इसलिये चारों खानिके जीवोंको जब तीन गुणोंसे गुणा करदेते हैं तो बारह होता है, फिर प्रत्येक खानिके जीवोंके साथ उनके सप्तधातु (रोम, चर्म, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि और शुक्र)में भेद है, इसलिये उन बारहोंको फिर सातसे गुणा करनेसे ८४ प्रकारकी योनियां सिद्ध कीगयी हैं। पर लक्ष शब्दका प्रयोग जो इस ८४ के साथ है सो वह असंख्य प्रमाणका बोध कराता है। क्योंकि " शतं सहस्रं लक्षं च सर्वमसंख्यवाचकम् " इस प्रसिद्ध वचनके अनुसार शत, सहस्र और लक्ष ये असंख्यके वाचक हैं। इसलिये सिद्ध होता है, कि ८४ लक्ष योनियोंके कहनेका यही तात्पर्य्य है, कि अनगिनत और असंख्य जीव हैं। शंका मतकरो !

इसी प्रकार इन प्रकृतियोंकी जिस रचनाकी ओर बुद्धि जावेगी वहां ही तन्मय होजावेगी और थोडी देरमें थक कर लौट आवेगी। क्योंकि उस महेश्वरकी शक्तियां मन, बुद्धि और वाणीसे परे हैं। अतएव इन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंको ही सबकी उत्पत्तिका कारण कह कर भगवान् इन भूतोंका नाम **एतद्योनीनि** रखते हैं। और अर्जुनसे कहते हैं, कि **सर्वाणीत्युपधारय !** इन सब भूतोंको एत-

योनि जान ! अर्थात् मेरी इन परा अपरा प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुआ जान ! पर हे अर्जुन ! ऐसा मत जान! कि इन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंमें किसी प्रकारकी इनकी अपनी शक्ति है अथवा ये भूत इन प्रकृतियोंके आधीन हैं। वरु इनमें केवल मेरी आज्ञा है। तू ऐसा मत समझ, कि ये वायु, अग्नि इत्यादि जो पंचभूत हैं इनमें उडाने जलाने वा गलानेकी अपनी शक्ति है !

"एतद्योनीनि" जो मैंने तुमसे कहा इसका केवल इतना ही अर्थ जानना चाहिये, कि मैं ही स्वयम् अपनी इन दो प्रकृतियोंके द्वारा सब भूतोंको रचता हूँ। परे ऐसा कदापि मत समझना, कि इनमें तनक भी अपनी शक्ति है। यदि मैं चाहूँ तो इनमें जो उडाने, जलाने और गलानेकी शक्ति है सब निकाल लूं और इन सबोंको शक्तिहीन करदूं। सो इतना भगवान्ने अर्जुनके प्रति यथार्थ वचन कहा।

बहुतेरे विद्वान और बुद्धिमान प्रकृतिको ही सृष्टिका कारण बताते हैं पर ऐसा समझना उनकी एकबारगी भूल है। उनकी इस भूलको मिटानेके तात्पर्यसे भगवान् इसी श्लोकके आधेमें कहते हैं, कि [अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा], मैं ही इस सम्पूर्ण जगतका प्रभव अर्थात् उत्पत्तिका कारण और प्रलय (नाश) करदेनेका कारण हूं। तात्पर्य यह है, कि ये मेरी दोनों प्रकृतियां मेरे अधीन हैं, जब चाहूं इनसे काम लूं। तहां वेदान्तके सूत्रकारव्यास देव भी कहते हैं, कि "जन्माद्यस्य यतः" इस

सृष्टिका जन्म, पालन और संहार जहांसे होता है सो ही ब्रह्म है। इस अर्थको श्रुति भी प्रतिपादन करती है, कि " ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व! तद्ब्रह्मेति ॥" (तैत्ति० ब० ३ श्रु० १) अर्थ—जिसके द्वारा ये भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, पाले जाते हैं तथा जिसमें जाकर फिर प्रवेश करजाते हैं उसीको ढूँढ ! वही ब्रह्म है।

इन वचनोंसे प्रकृतिको कारण कहने वाले सांख्यवादियोंका मत खंडन होता है। व्यासदेव भी इस प्रकृतिको नहीं मानते हुए कहते हैं, कि "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० १ सू० ५) इसका भाष्य श्री शंकराचार्य्य यों करते हैं, कि "न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यम्" अर्थात् सांख्य द्वारा परिकल्पित जो अचेतन प्रधान (प्रकृति) वह जगत्का कारण होनेमें शक्य नहीं है। अर्थात् प्रकृति स्वयं जगत्का कारण नहीं होसकती। इसलिये वह ब्रह्म ही जगत्का कारण है। तहां प्रमाण— " आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति ॥ स इमांल्लोकानसृजत " (ऐतरे० अ० १ खं० १ श्रु० १, २) अर्थ— सृष्टिसे पहले केवल एक आत्मा (ब्रह्म) ही था अन्य कुछ नहीं था, तिस ब्रह्मने अपनी ओर ईक्षण किया, ईक्षण करते ही अपनी शोभापर आप प्रसन्न हुआ और विचारा, कि अपनी विभूतियोंसे लोकलोकान्तरोंको रचकर उनके साथ रमण करूं। ऐसे विचारसे लोकोंकी रचना करदी। केवल

इतना कहते ही, कि "एकोऽहं बहुस्याम" एक हूं और बहुत होजाऊं बस एक निमिषमात्रमें सारे ब्रह्माण्डकी रचना होगयी।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि यद्यपि यह सृष्टि "एतद्योनीनि" है पर यथार्थमें उन प्रकृतियोंपर मेरी सदा आज्ञा बनी रहती है। इसलिये इनके प्रभव (उत्पत्ति) और प्रलय (नाश) का कारण मैं ही हूं ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि भगवन् ! आप तो वासुदेवस्वरूप महेश्वर सदा निर्विकार और निर्लेप हो, फिर आपके शान्तस्वरूपमें यह ईक्षणारूप विकार क्यों उत्पन्न हुआ ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— [हे] धनञ्जय ! (अर्जुन !) मत्तः (परमेश्वरात) परतरम् (श्रेष्ठ सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणम् तदुपादानकम्) अन्यत् (इतरत् । भिन्नम्) किंचित, न, अस्ति सूत्रे (तन्तौ) मणिगणाः (मुक्ताविद्रुमवैदूर्यस्फटिकादयः) इव, मयि (ब्रह्मणि । वासुदेवे) इदम्, सर्वम्, प्रोतम (अनुस्यूतम् । अनुगतम् । अनुविद्धम) ॥ ७ ॥

पदार्थः— [हे] (धनंजय !) अर्जुन ! (मत्तः) मुझसे (परतरम्) श्रेष्ठ सृष्टिसंहारका कारण (अन्यत, किंचित) दूसरा

कुछ भी (न, अस्ति) नहीं है जैसे (सूत्रे) धागामें (मणि-गणाः, इव) मणियोंकी माला पिरोयी रहती हैं इसी प्रकार (मयि) मुझमें (इदम् सर्वम्) ये सम्पूर्ण जगत्के पदार्थ पिरोये हुए हैं ॥७॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंका की है, कि ब्रह्मका स्वरूप निर्मल और निर्विकार सुनाजाता है फिर ब्रह्ममें ईक्षण, स्मरण और संकल्प इत्यादिके विकार क्यों उत्पन्न हुए ? इस शंकाका समाधान करतेहुए श्री भगवान कहते हैं, कि [मत्तः परतरं नान्यत्किं-चिदस्ति धनञ्जय !] हे अर्जुन ! मुझसे परे अर्थात् श्रेष्ठ इस सृष्टिके प्रभव (उत्पत्ति) और प्रलय (संहार) का कारण दूसरा कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मादि देव जो सबोंसे श्रेष्ठ हैं उनसे भी मैं श्रेष्ठ हूं। वे भी मेरे आश्रय होकर सृष्टि-संहारका कार्य सम्पादन किया करते हैं। सृष्टिके संहार, पालनमें वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं, मेरे आधीन कार्य करते हैं ।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि वह स्वयं सर्वज्ञ है और सब अल्पज्ञ हैं । इसलिये उस महेश्वरसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं है। प्रमाण— " तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (पतं० साधनपाद १ सू० २५) " स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० साधनपाद सू० २६) अर्थात् निरतिशय ज्ञान जो सर्वज्ञ होनेका बीज है सो उसी महेश्वरमें स्थित है। जिससे अधिक दूसरा न हो उसीको निरतिशय कहते हैं। सो ईश्वरमें जो निरतिशय है वही उसकी सर्वज्ञताका कारण है। इसी

कारण सो महेश्वर कालके परिमाणसे रहित होनेके कारण अर्थात् त्रिकाला-तीत होनेसे पूर्ववालोंका भी गुरु है तात्पर्य्य यह है, कि सबसे पूर्ववाले जो ब्रह्मादि देव हैं वे सब कालके आधीन हैं और वह सर्वज्ञ महेश्वर कालसे परे है। इसलिये उससे परे कोई दूसरा इस सृष्टिके उत्पत्ति, पालन और संहारका कारण नहीं होसकता। समुद्रमें नदियोंके मिलजानेसे किसी प्रकारका विकार नहीं होसकता। देखो! जबसे यह सृष्टि है तबसे सहस्रों नदियां चारों ओरसे सिमिट कर, पर्वतोंसे चलकर समुद्रमें मिलती हैं; पर इतना जल मिलनेपर भी समुद्रमें कुछ विकार नहीं होता क्योंकि स्वजातियोंके मेलमें विकार नहीं होता। हां! जब वायुका मेल उस समुद्र के जलसे होता है तब उसमें लहरें बुद्-बुद इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार उस महेश्वरसे परे विकार उत्पन्न करनेवाली कुछ वस्तु हो तो अवश्य उसमें विकार होसकता है सो उससे इतर कोई वस्तु ही नहीं।

शंका—बहुतेरे विद्वान् यहां यों शंका करेंगे, कि "परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" (ब्रह्मसू० अ० ३ पा० २ सू० ३०) अर्थात् ब्रह्म जिसको जो सबसे परे कहते हैं सो ऐसा नहीं। ब्रह्मसे भी परे अन्य कोई वस्तु है। क्योंकि सेतु, उन्मान और भेद। ये चार जिसमें हों उससे परे दूसरी वस्तुका होना संभव है। सो ब्रह्ममें चारों बातें पायी जाती हैं। पहले तो यह जानना अतिही आवश्यक है, कि ये चारों हैं क्या? फिर ये ब्रह्ममें हैं वा नहीं? इसलिये यहां पहले १. सेतु का वर्णन करते हैं।

सेतुके पारजाने वाला सेतुपर खड़ा नहीं रहता, उसके मनमें अवश्य यह सिद्धान्त बना रहता है, कि यह पुल यात्रियोंको एक ओरसे दूसरी ओर पहुंचानेकेलिये बना है। सो श्रुति भी कहती है "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः····" (छां० ८—४—१)

अर्थ— यह जो आत्मा है सो सबको धारण करने वाला सेतु है अर्थात् आधार है और सारा जगत् आधेय है। (सेतुं तीर्त्वा) तिस सेतुको पारकर प्राणी अनात्म-देशमें प्रवेश करता है। तात्पर्य्य यह है, कि श्रुतिने सेतुका उदाहरण देकर आत्माको एक-देशिक सिद्ध करदिया और यह दिखलाया, कि आत्मा सेतुके समान सबको धारण किये हुए है। इसलिये इससे परे भी दूसरी वस्तु है। क्योंकि बिना आधेयके आधार नहीं कहा जासकता। सो आधार (सेतु) आत्मा है और आधेय जगत् है इसलिये दो वस्तुओंका होना सिद्ध हुआ। फिर निरसन्देह उस ब्रह्मसे इतर दूसरी वस्तुका होना सिद्ध होजाता है।

फिर २. उन्मान कहते हैं प्रमाणको सो जो वस्तु प्रमाणसे विच्छेदको प्राप्त होगी उससे परे दूसरी वस्तु भी अवश्य होगी। सो श्रुति कहती है, कि "सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्" (मां० श्रु० २)

अर्थ— यह सब ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है सो यह आत्मा (ब्रह्म) चार पांव वाला है अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही इसके चार पाद हैं। फिर जब चार पाद रूप प्रमाणसे यह आत्मा घेरागया तो प्रमाणसे विच्छेद प्राप्त होनेके कारण यह

संभव है, कि इससे इतर वस्तु भी कुछ हो। क्योंकि परिमित होगया अपरिमित नहीं रहा।

अब ३ सम्बन्ध दिखलाया जाता है— श्रु०— "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" अर्थात् जीव और वृक्ष दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे दोनों परस्पर सखा हैं। और ये दोनों पक्षी एक वृक्षपर ठहरते हैं। यहां जीवसे और वृक्षसे उस ब्रह्मको सम्बन्ध है। इसलिये ब्रह्मसे भी परे वस्तुका होना संभव होता है। अथवा "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छां० ६-८-१) यह छान्दोग्योपनिषदुक्त वचन कहता है, कि हे सौम्य! यह जीव सुषुप्तिकालमें सत् ब्रह्मके साथ सम्बन्धको पाता है। "प्राज्ञेना-ऽऽत्मना संपरिष्वक्तः" (बृह० ४-३-२१)

अर्थ— यह आत्मा प्राज्ञके साथ सम्बन्ध रखता है। इन श्रुति-योंसे ब्रह्मका सम्बन्ध जीवके साथ सिद्ध होता है। इससे यह अवश्य सिद्ध होगया, कि ब्रह्मसे इतर भी कुछ है।

अब रहा ४ भेद सो कहते हैं—

श्रु०— "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते....." (छां० १-६-६) तथा "अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम" (छां० १-७-५)

अर्थ— यह जो आदित्यमण्डलके भीतर हिरण्यमय पुरुष देखा जाता है सो ब्रह्म है। फिर कहा, कि यह जो नेत्रमें पुरुष देखा जाता है

सो ब्रह्म है । इसलिये ब्रह्ममें भेद हुआ। क्योंकि (तदेवरूपं यद्-मुष्य रूपम्) किसीका जिस रूपके साथ सम्बन्ध रहता है वह उसी रूपका होता है। तथा जिस प्रकार उसके गुण होते हैं वे गुण भी उसमें रहते हैं। जो नाम होता है वही उसमें रहने वालेका भी नाम होता है । इसलिये इन वचनोंसे ब्रह्ममें भेद भी देखा जाता है।

अब उक्त ब्रह्मसूत्रमें जो व्यासदेवने पूर्वपक्ष किया, कि सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद ये चारों जिसमें पाये जावें उससे परे भी वस्तुका होना सिद्ध होता है। सो इस ब्रह्ममें चारों पाये जानेके कारण ब्रह्मसे इतर भी वस्तु का होना सिद्ध होता है। पर भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " मत्तः परतरं नास्ति " मुझसे परे इतर कुछ नहीं सो यह कैसे बने ?

समाधान— " तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः " (ब्रह्म० अ० २ पा० १ सू० १५) अर्थात् उस ब्रह्मसे परे दूसरा कुछ भी नहीं है। यह जो अनन्यत्व है सो यथार्थ है। क्योंकि ये जो सेतु उन्मानादि चार प्रकारके विकार ब्रह्ममें कहेगये सो विकार यथार्थ नहीं हैं। केवल वाचारंभण विकार मात्र हैं, सो असत्य हैं, सत्य नहीं हैं । क्योंकि यथार्थमें कुछ विकार हो तो ब्रह्मसे इतर वस्तु हो। पहले दिखलाया जाचुका है, कि यथार्थमें जब अन्य वस्तु होती है तबही विकार होजाता है। जहां अन्य नहीं तहां विकार भी नहीं। यदि है तो परायेके बोध करानेके निमित्त वाचारंभणके कारण विकारका नामधेय होता है।

जैसे श्रुति– यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम् " (छां० ६-१–४)

अर्थ– श्वेतकेतुसे उसका पिता कहता है, कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड (मिट्टीका गोला) के जाननेसे तिससे बनेहुए जो घट (घडा) शराव (प्याला) इत्यादि उसके कार्य हैं सो सब जाने जाते हैं, अर्थात् कारणके जाननेसे उसके सर्व कार्य बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें आपसे आप चलेआते हैं। क्योंकि कारणसे कार्यकी पृथक् सत्ताका अभाव है, अर्थात् कारणके हटालेनेसे कार्य रहता ही नहीं। जैसे वस्त्रसे सूतको निकाललो तो फिर वस्त्रका अभाव होजावेगा। इसी प्रकार यदि घटादि मृत्तिकासे पृथक् देखेजाते हैं तो यह भूल है यथार्थमें पृथक् नहीं हैं, न वहां कोई विकार है और यदि विकार है तो केवल वाचारम्भणमात्र ही विकार है। उनसे कामलेनेके लिये अर्थात् जिज्ञासुओंको समझानेके लिये वाणीसे आरम्भ कियाहुआ विकार है, सो केवल कहने ही मात्र है नहीं तो यथार्थमें मृत्तिकासे पृथक् घटादि कुछ भी नहीं हैं। इसलिये यदि सच पूछाजावे तो परमार्थतः सत्य केवल मृत्तिकामात्र है। क्योंकि कार्यका उपादान कारण तो उस कार्यके आरम्भसे अन्त तक उस कार्यमें अनुगत (मिलाहुआ) रहता है। जैसे जबसे घट बनना आरम्भ हुआ और जब तक वह घट स्थिर रहा तब तक उपादान कारण मृत्तिका उस घटमें अनुगत रही। इसलिये आरम्भ और अन्तमें केवल मृत्तिका ही सत्य है। मृत्तिकासे इतर कुछभी नहीं है। हां! जल, दण्ड और कुलाल इत्यादि

उस घटके निमित्त कारण हैं। इसलिये उस घटमें अनुगत नहीं हैं। सो कारणसे भिन्न करके जो कार्यका असत्यपना है सो ही तिस कारण-के अद्वैतपनेको सिद्ध करता है।

इसी प्रकार उस महेश्वरसे बनेहुए जो सृष्टिके कार्य हैं सो उस महेश्वरसे भिन्न नहीं हैं। सृष्टिके आरम्भसे अन्ततक केवल ब्रह्म ही सृष्टिमें अनुगत है अतएव घटकी मृत्तिकाके समान सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म सृष्टिका कारण है। फिर कारणके हटालेनेसे कार्यकी सत्ताका अभाव होजावेगा। इसी कारण ब्रह्मसे भिन्न अन्य कहीं कुछ भी सृष्टि नहीं है। सो सृष्टिरूप कार्यकी असत्यता ही कारणरूप ब्रह्मके अद्वैत होनेको सिद्ध करती है। इससे सिद्ध होता है, कि आरंभ में भी ब्रह्म ही रहा और अन्तमें भी ब्रह्म ही रहेगा। इसलिये भगवान्‌का यह कहना, कि मुझसे परे कुछ भी नहीं सो सांगोपांग सत्य ही है।

जब एवम्प्रकार उस वासुदेवसे इतर कुछ भी न रहा तो विकार कहांसे आवे ? इसलिये सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद जो चारों प्रकारके विकार दिखलाकर ब्रह्मसे इतर भी कुछ माना था सो सिद्धान्त खण्डन होगया तथा ब्रह्ममें कहीं भी विकार नहीं रहा और तिससे इतर अन्य किसी वस्तुका रहना भी सिद्ध न हुआ शंका मत करो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव] इस ब्रह्माण्डमें सूर्य, चन्द्र, तारागण, सागर, पर्वत, नद, नदी तथा जितने लोक—लोकान्तर हैं सर्व मुझमें पिरोये

हुए हैं। किस प्रकार पिरोये हुए हैं? तो जैसे सूतमें मणिकायें पिरोयी रहती हैं; अर्थात् जैसे माला बनानेवाले मणि, माणिक, मुक्ता, विद्रुम, वैडूर्य्य इत्यादि मणियोंको एक सूतमें पिरोकर हार बनालेते हैं। इसी प्रकार उस ब्रह्मदेवने अपनी सत्तारूप सूतमें इन नाना प्रकारके विलग-विलग लोक-लोकान्तरोंको तथा उनमें स्थित भिन्न-भिन्न वस्तुओंको मणियोंके समान पिरोरक्खा है।

शंका— भगवानने विराट्रूप मालाको यहां मणिकी मालासे क्यों उपमादी?

समाधान— ये जितने लोकलोकान्तर हैं तथा सूर्य्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि हैं सब गोलमोल मणिके स्वरूपमें हैं। इसलिये यहां मणियोंसे उपमा दीगयी है।

शंका— पहले तो यह सिद्धान्त कियागया, कि ब्रह्मसे इतर अन्य कुछ नहीं। जैसा, कि मृत्तिका और घटकी उपमा देकर कारण और कार्य्यकी एकता दिखलायी है। अर्थात् सब ब्रह्म ही दिखलाया। और अब सूत और मणियोंकी उपमा देकर भिन्नता दिखलाते हैं ऐसा क्यों? क्योंकि सभी जानते हैं, कि मालामें सूत और मणि दो भिन्न पदार्थ हैं। सो सूत मणियोंका कारण नहीं होसकता। इसलिये इस मालाकी उपमामें भगवानका स्वरूप तो सूत है और जगत्के पदार्थ मणि हैं तो ऐसी उपमासे जगत् और ब्रह्मका एक होना सिद्ध नहीं होता। तथा ब्रह्म जगत्का कारण भी नहीं रहता है। एकवारगी जगत्से भिन्न होजाता है। तो

पहले अभिन्नता दिखलाकर अब भिन्नता दिखलाते हैं । सो ऐसा करनेसे पूर्वापर विरोध क्यों ?

समाधान— +व्याप्ति दो प्रकारकी होती है—

प्रमाण— " द्वैविध्यन्तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः (भाषापरिच्छेद श्लो० १४२) अर्थात् व्याप्ति दो प्रकारकी होती है अन्वय और व्यतिरेक । सो भगवान् इस सातवें श्लोकके आधेमें अपनी अन्वय-व्याप्ति दिखलाकर शेष आधेमें व्यतिरेक-व्याप्ति दिखलाते हैं । अर्थात् आधे श्लोकमें तो यह कहा, कि मुझसे विलग कोई वस्तु संसारमें नहीं है, मैं सर्वत्र व्यापक सबका कारण हूं । अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका उपादान कारण मैं न होऊँ । क्योंकि मैं सर्वत्र व्यापक हूं यह तो अव्यतिरेक अर्थात् अन्वयव्याप्ति दिखलायी । अब आधे श्लोकमें मालाका दृष्टान्त देकर आप सूत्रवत् बनते हैं। और संसारके लोकलोकान्तरोंको मणिके तुल्य बना सबको अपनेमें पिरोयाहुआ कहकर व्यतिरेक—व्याप्ति भी दिखलाते हैं । अर्थात् जहां सूत नहीं है वहां माला भी नहीं है यद्यपि सूत मालाका उपादान-कारण नहीं है निमित्तकारण है पर एक दूसरेमें व्यतिरेक-सम्बन्ध तो पाही जाता है अर्थात् जहां सूत नहीं है वहां माला भी नहीं होसकती । इसी प्रकार जहां भगवान् भी नहीं हैं वहां जगत् भी नहीं है । क्योंकि व्यवहार-कालमें जब प्राणी संसृतिवस्तुओंसे

+ देखो भाषा परिच्छेद यह न्यायका विषय अत्यन्त गम्भीर है जिसके विस्तारपूर्वक वर्णन करनेका यहां अवकाश नहीं है इसलिये संक्षिप्त कहा ।

व्यवहार साधन करने लगजाते हैं और तिस व्यवहारमें वाचारंभण विकारकः परमात्मतत्त्व जो सबोंका कारण तिसे भूल केवल सृष्टिके पदार्थरूप कार्य्यको स्मरणमें रखकरे यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह धन, ये बगीचे इत्यादिकी स्मृति करने लगता है और इनका मुख्य कारण जो भगवत्स्वरूप तिसकी विस्मृति होजाती है तब वह भगवान् अज्ञानियोंके अन्तःकरणसे घिराहुआ जानपडता है जैसे घटका लानेवाला कुलालकी दुकानपर जा मृत्तिकाकी सत्यताको भूल बार-बार घट-घट पुकारता है । इसी प्रकारे प्राणी ब्रह्मको भूल जगत्के पदार्थोंका जब भिन्न २ नाम रखने लगजाता है तब वह महेश्वर इन सब पदार्थोंमें अनुस्यूत मणिसूतके समान उस प्रत्यक्ष व्यवहारसे छिपाहुआ मणिके सूत्रवत् भासता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो भगवान्की व्याप्ति इस संसारमें अन्वय व्याप्ति है और अज्ञानी अनात्मवादीकी दृष्टिमें व्यतिरेकव्याप्ति है । अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवान् हैं ही नहीं ।

यद्यपि वह अलग नहीं है उसके साथ ही है तथापि अन्तःकरणपर द्वन्द्वोंका आवरण होजानेके कारण वह ब्रह्म मणिकाके सूत्रवत भीतर ही भीतर छिपा रहता है और ऊपर सर्वत्र मणिकाके समान जगत् ही जगत् भासता है । तिस मालाके देखनेवाले वा पहिननेवालेको सूत्रका कहीं ध्यान भी नहीं रहता । इसी कारण इसको व्यतिरेकव्याप्ति कहा ।

इसी कारण भगवान्ने आधे श्लोकमें अपनी अन्वयव्याप्ति और आधेमें अपनी व्यतिरेकव्याप्ति दिखलायी शंका मत करो ॥ ७ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन्! तुम किस प्रकार सब वस्तुओं में व्यापरहे हो ? और ये सब वस्तु तुममें कैसे ओत-प्रोत अर्थात पिरोयी हुई हैं ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् अगले पांच श्लोकोंमें अपनी व्यापकता और सम्पूर्ण जगत्का अपनेमें पिरोयाजाना दिखलाते हैं—

मू०— रसोऽहमप्सु कौन्तेय! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— कौन्तेय ! (अर्जुन !) अहम् (महेश्वरः) अप्सु (जलेषु) रसः (अपां यः सारः) शशिसूर्य्ययोः (चन्द्रादित्ययोः) प्रभा (प्रकाशः । दीप्तिः) सर्व्ववेदेषु (ऋगादि चतुर्षु वेदेषु) प्रणवः (ॐकारः) खे (आकाशे) शब्दः (ध्वनिः । श्रोत्रग्राह्यगुणपदार्थविशेषः) नृषु (मनुष्येषु) पौरुषम् (शौर्य्यधैर्य्यादिरूपं पुरुषस्य सारम्) अस्मि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(कौन्तेय !) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! (अहम्) मैं वासुदेव (अप्सु) जलोंमें (रसः) सारांश रस हूं । और (शशिसूर्य्ययोः) चन्द्रमा और सूर्य्यमें (प्रभा) प्रकाश और दीप्ति हूं (सर्ववेदेषु) ऋक्, यजुरादि चारों वेदोंमें (प्रणवः) ॐकार मैं ही हूं और (नृषु) मनुष्योंमें (पौरुषम्) शौर्य्य, धैर्य्य इत्यादि पुरुषत्वका सार (अस्मि) मैं ही हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से उनकी व्यापकता तथा उनमें जगत् किस प्रकार ओतप्रोत है ? अर्थात् गुँथा हुआ है सो वर्णन करनेकी प्रार्थनाकी है इस विषयको वर्णन करते हुए और अपनी विभूतियोंको दिखलातेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**रसोऽहमप्सुकौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! जलमें जो रस है सो मैं ही हूं अर्थात् जलभागमें जो सारांश तन्मात्रा रसरूप है सो तू मुझहीको जान ! और सूर्य्य चन्द्रमें जो प्रभा (ज्योति) है सो मैंही हूं। जल और रस दो भिन्न द्रव्य समझे जाते हैं। क्योंकि भगवान्के " अप्सु " शब्दको सप्तस्यन्तके प्रयोगमें कहनेसे ही ऐसा बोध होता है, कि जलके बीच किसी अन्य सारवस्तुको मानकर रस कहते हैं।

शंका— भगवानने जो यहां यह कहा, कि जलोंमें रस, चन्द्र और सूर्य्यमें ज्योति, सब वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषार्थ मैं ही हूं ऐसा कहनेसे भगवान्की व्यापकतामें दोष आता है। क्योंकि जलमें रसहूं ऐसा कहनेसे बोधहोता है, कि जल नहीं हूं। और शशि सूर्य्यमें प्रभा कहनेसे बोध होता है, कि प्रभाही मात्र हूं शशि सूर्य्य नहीं। वेदोंमें प्रणव कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि वेदोंमें प्रणवमात्र हूं वेद नहीं। आकाशमें शब्द हूं ऐसा कहनेसे बोध होता है, कि शब्दमात्र हूं आकाश नहीं हूं। मनुष्योंमें पुरुषार्थ हूं ऐसा कहनेसे यह बोध होता है, कि मनुष्योंमें पुरुषार्थ मात्र हूं मनुष्य नहीं हूं ! ऐसे कहने ही से बोध होता है, कि भगवान् एक देशीय हैं सर्वव्यापक नहीं ऐसा क्यों ?

समाधान— जल और रसमें कुछ भेद नहीं है । इसलिये भगवान्की व्यापकतामें भी किसी प्रकारके दोषकी प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि जल कार्य्य और रस कारणरूप है इसलिये इन दोनोंमें तनक भी भेद नहीं है । केवल भेद इतना है, कि जल व्यष्टिरूप है और रस समष्टिरूप है । सो समष्टि और व्यष्टिका स्वरूप कहते हैं—

" समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् । तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥ " (पंचद० प्र० १ श्लो० २५)

अर्थ— जो समष्टि है सो ईश्वर है, हिरण्यगर्भ है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है । जैसे गर्भमें समस्त शरीर स्थित रहता है ऐसे ईश्वरके परमैश्वर्य-रूप गर्भमें यह सम्पूर्ण विराट् (ब्रह्माण्ड) स्थित है । इसी कारण समष्टि स्वात्मतादात्म्यके अभिमानका विषय है । अर्थात् सांगोपांग सम्पूर्ण विभवकी पूर्ण शक्तिका ज्ञाता है । क्योंकि यह सर्वदेशिक है और सर्वव्यापक है । पर इस ईश्वरसे अन्य जो जीव है सो अल्पज्ञ है और व्यष्टि है । इसलिये यह सब देशमें, सब ठौरमें व्यापक नहीं है । अतएव इसे स्वात्मतादात्म्यका अभिमान नहीं होसकता । अर्थात् सांगोपांग अपने सम्पूर्ण विभवकी पूर्ण शक्तिके जाननेका अभिमान नहीं होसकता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि समष्टि सम्पूर्ण (whobe) है और व्यष्टि अपूर्ण (Poetiou) है । किसी वस्तुका समूह समष्टि कहलाता है । जैसे वृक्षकी समष्टि बीज है जिसमें डाल, पात, फल, फूल इत्यादि सब एकसाथ हैं । और जब इस समष्टिके अंगोंको

बिलग-बिलग कर बोलिये तो डाल व्यष्टि है, पात व्यष्टि है, फल व्यष्टि है और फूल व्यष्टि है।

इसी प्रकार रस समष्टि और आप जो जल सो व्यष्टि है। यद्यपि बहुतेरे बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें यह बात समायीहुयी है, कि जल ही * समष्टि है और रस व्यष्टि है सो ऐसा नहीं है रस ही समष्टि है। इसी कारण भगवान्‌ने अपनेको रस कहकर अपना समष्टिरूप दिखला अपनी व्यापकता दिखलायी। ऐसे ही शशि सूर्य्यमें प्रभा, वेदों प्रणव, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषार्थरूप समष्टिको अपना रूप दिखलाकर सर्वत्र अपनी व्यापकता दिखलायी शंका मत करो।

अब यहां पाठकोंके कल्याण निमित्त रसके भेदोंका वर्णन करदिया जाता है—

जिस सारे रसको भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि रस मैं हूं, सो रस केवल जल ही में नहीं है सर्वत्र सब तत्त्वोंमें है। यह बात पंचभूतोंके पंचीकरणमें भी दिखलायी गयी है, कि "द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ॥" (पंचद० प्र० १ श्लोक २७)

---

* समष्टि— समुद्र जैसे समष्टि मानाजावे तो उसकी लहरें, बुद बुद, फेन, मोती, कौड़ी, सीप इत्यादि व्यष्टि हैं। इसी प्रकार आग यदि समष्टि मानीजावे तो चिनगारी, ज्वाला, अंगारा इत्यादि उसकी व्यष्टि हैं।

अर्थ— एक-एक भूतको पांचों भूतोंमें मिला दियागया। सो कैसे कियागया? कि प्रथम एक तत्त्व जैसे जलके दो भाग किये तिनमें आधा भाग तो जल ही में छोड दिया शेष आधेके चार समान भाग कर चारों तत्त्वोंको देदिया। इससे सिद्ध हुआ, कि अन्य तत्त्वोंमें भी रेस है इसलिये पंचभूतकी सृष्टिमें जहांतक जितनी वस्तुएँ हैं सब रसमय हैं।

प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है, कि इन अन्नोंमें जो रस हैं वे जलके ही हैं। पर जलमात्रके रससे ये अन्न इतने रसीले नहीं होते जितने, कि अग्निके मेलसे। जब ये कच्चे अन्न चूल्हेपर चढा-कर पकायेजाते हैं तब ये अधिक रसीले और स्वादु होते हैं। इसी प्रकार जब वृक्षोंके फल सूर्यके ताप और वायुकी सहायतासे पकजाते हैं तब ये अधिक रेसीले और स्वादु होते हैं। और इनमें पूर्ण मिठास आती है। इससे सिद्ध होता है, कि जिसे "रस" कहते हैं सो सब पदार्थोंमें व्यापक है। जितने अन्नादि हैं तथा औषधि, लता, वृक्ष, फल, फूल इत्यादि हैं सबोंमें रस जलरूपसे व्यापरहा है और जलमें रस प्रधान-रूपसे व्यापरहा है।

अब तिस जलके सम्बन्धसे कितने प्रकारके रस हैं सो वर्णन कियेजाते हैं अर्थात् इस जलने पंचीकरण होकर इस रसको कई प्रकारका करदिया है— " तत्र पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः। तोयाग्नि-गुणबाहुल्यादम्लः। पृथिव्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः। वाय्वग्नि-गुणबाहुल्यात् कटुकः। वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात् तिक्तः।

पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषायः । एते च रसाः परस्पर-संयोगात्सप्तपंचाशद्भवन्ति। भेदैश्चैषां त्रिषष्ठिविधविकल्पो द्रव्य-देशकालप्रभावात् । (सुश्रुत अ० ६३)

अर्थ– पृथिवी और जलके संयोगकी अधिकतासे मधुररस । जल और आगके गुणोंके संयोगकी अधिकतासे अम्ल (खट्टा)। इसी प्रकार पृथिवी और अग्निसे लवण। वायु और अग्निसे कटुक (कडुवा) वायु और आकाशसे तिक्त (तीता)। पृथिवी और वायुसे कषाय (कषैला)। फिर इन रसोंके परस्पर संयोगसे ५७ प्रकारके रस होते हैं। इनहीं ५७ रसोंमें दो-दो रसोंके तीन-तीन चार-चार, पांच-पांच और छौ-छौ रसोंके मेलसे एक रस बनाहुआ है।

पहले दो-दो रसोंके मेलसे जितने प्रकारके रस हैं सो कहते हैं:–
१. मधुराम्ल। २. मधुरेलवण । ३. मधुरतिक्त। ४. मधुरकटुक। ५. मधुरकषाय। ६. अम्लमधुर। ७. अम्ललवण। ८. अम्लकटुक। ९. अम्लतिक्त। १०. अम्लकषाय। ११. लवणकटुक। १२. लवणतिक्त। १३. कटुतिक्त। १४. कटुकषाय और १५. तिक्तकषाय।

अब तीन-तीनके संयोगोंको कहते हैं– १६. मधुराम्ललवण। १७. मधुराम्लकटुक। १८. मधुराम्लतिक्त। १९. मधुराम्लकषाय। २०. मधुरलवणतिक्त। २१. मधुरेलवणकषाय। २२. मधुरकटुकतिक्त। २३. मधुरकटुककषाय। २४. मधुरतिक्तकषाय। २५. अम्ललवणक-टुक। २६. अम्ललवणतिक्त। २७. अम्ललवणकषाय। २८. अम्ल-कटुककषाय। २९. अम्लकटुकतिक्त। ३० अम्लतिक्तकषाय। ३१. लव-

णकटुतिक्त। ३२. लवणकटुकषाय। ३३. लवणतिक्तकषाय। ३४. कटु-तिक्तकषाय।

अब चार-चार रसोंके एकसाथ होनेका नाम लिखते हैं— ३५. मधुराम्ललवणकटुक। ३६. मधुराम्ललवणतिक्त। ३७. मधुराम्ल-लवणकषाय। ३८. मधुराम्लकटुकतिक्त। ३९. मधुराम्लकटुककषाय। ४०, मधुराम्ललवणतिक्तकटुक। ४१. मधुराम्लतिक्तकषाय। ४२. मधुर-लवणकटुतिक्त। ४३. मधुरलवणकटुकपाय। ४४. मधुरलवणतिक्त-कषाय। ४५. अम्ललवणतिक्तकषाय। ४६. अम्ललवणकटुतिक्त। ४७. अम्ललवणकटुकषाय। ४८. अम्ललवणतिक्तकषाय। ४९ अम्ल कटुतिक्तकषाय। ५०. लवणकटुतिक्तकपाय।

अब पांच-पांच रसोंके संयोग वाले रसोंको कहते हैं— ५१. मधु-राम्ललवणकटुतिक्त। ५२. मधुराम्ललवणकटुकषाय। ५३. मधुराम्ल-लवणतिक्तकषाय। ५४. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय। ५५. मधुरलवण-कटुतिक्तकषाय। ५६. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय। ५७. मधुराम्ललव-णकटुतिक्तकषाय।

ये तो षट्रसोंके सम्बन्धसे ५७ प्रकारके रस कहेगये जिनका ग्रहण केवल जिह्वा द्वारा होता है, इसी कारण जिह्वाको रसना कहते हैं। (रस+ युज्+ टाप् च)

अब इनसे इतर दूसरे प्रकारके रसोंका वर्णन कियाजाता है—
" सम्यक् पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः।
स तु द्रवः सितः शीतः स्वादुः स्निग्धश्चलो भवेत्॥

सर्वं देहचरस्यापि रसस्य हृदयं स्थलम् ।
समानमरुता पूर्वं यदयं हृदये धृतः ।
सर्वांदेव्यप्नोति च तनुं गुणैः ... ॥ ” (भावप्रकाशः)

अर्थ— भोजनके पश्चात् जो अन्न परिपक्व होकरे सारांशको उत्पन्न करता है उसे रस कहते हैं । सो रस कोमल, श्वेत, शीतल, स्वादिष्ट, चिकना और सर्वत्र शरीरमें चलनेवाला होता है । पर उसका मुख्य स्थान हृदय है जहांसे सर्वत्र जाता है । जिसको समान वायु सर्वत्र फैलादेती है । एवम्प्रकार यह रस धमनी नामवाली नाडीके द्वारा रोम, चर्म, रुधिरादि सातों धातुओंको पहुंचजाता है, सर्व धातुओंको पुष्ट करता है और आप अपने गुणोंसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होता है । इस रसको सम्पूर्ण देह और प्राणसे सम्बन्ध है ।

इसी कारण षट्रस सम्बन्धमें जो ५७ प्रकारके रस कहेगये तथा अन्नका सारांश शरीरमें दौडनेवाला जो रस है सबोंको इस शरीरमें केवल अन्नमय-कोश और प्राणमय-कोशसे सम्बन्ध है ।

अब इस श्लोकमें “ प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः ” कहनेसे भगवानका यही तात्पर्य है, कि “ प्रभा ” जो मेरी समष्टि स्वरूप है जिससे सूर्य और चन्द्रमें थोडीसी जो प्रभा व्यष्टिरूप होकर व्यापती है वह मैं ही हूं ।

शंका— सूर्यको सब ज्योतियोंमें उत्तम ज्योति कही है— “ देवन्देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम ” इस शु० यजु० अध्याय २०

मंत्र २१ से सिद्ध होता है, कि सब ज्योतियोंमें श्रेष्ठ सूर्य है । फिर अब दूसरे प्रकारका कौन प्रकाश है जो इससे भी उत्तम होगा ?

समाधान— यह जो सूर्यमें प्रकाश है उसके उत्तम होनेमें कोई सन्देह नहीं । पर यहां जो वेद इस सूर्यकी ज्योतिको उत्तम कहता है सो केवल उन ज्योतियोंकी अपेक्षा कहता है जिनको हमलोग इन चर्म-चक्षुओंसे देख सकते हैं । अर्थात् तारागण, चन्द्रमा, अग्नि और विद्युदादि । पर जो परमज्योति (भगवत्का यथार्थ प्रकाश) है उसके सम्मुख तो सूर्यकी ज्योतिका कहीं पता भी नहीं लगता । प्रमाण श्रु०— "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् । नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (मुं० २ खं० २ श्रु० १०)

उस महाप्रभुकी प्रभाके सम्मुख सूर्य नहीं प्रकाश करसकता, चन्द्रमा तथा तारागण मलीन और तेजहीन होजाते हैं, ये बिजलियां भी जहां अपनी चपल, चमकीली दीप्तिको दीपित नहीं करसकतीं । भला तहां इस अग्निकी क्या गणना कीजावे ? इसलिये श्रुति कहती है, कि उस महेश्वरकी ही प्रभासे ये सब प्रभायुक्त होरहे हैं उसीके तेजसे यह सारा जगत् प्रकाशमान होरहा है ।

इस श्रुतिसे पूर्ण प्रकार यही सिद्ध होता है, कि इन सूर्य, चन्द्रा-दिमें जो प्रभा है सो उस महाप्रभुकी समष्टि-प्रभाकी व्यष्टि है अर्थात् उस महाप्रभुके तेजकी एक चिनगारीमात्र है ।

दूसरी बात यह है, कि प्रभा केवल सूर्य, चन्द्र वा अग्निमें नहीं वरु अन्य सब तेजोमय पदार्थोंमें भी उसी महाप्रभुकी परम प्रभाका अणुमात्र सुशोभित होरहा है। जैसे हीरा, लाल, पन्ना, पुखराज, नीलम, पिरोजादि मणि-माणिकोमें तथा सोना, चांदी, कांसा, पीतल इत्यादि धातुओंमें फिर बडे-बडे सुन्दर प्राणियोंके शरीरमें उसी परम प्रभाका अंश विराजमान होरहा है। तहां ऋग्वेदका मंत्र कहता है—

"ॐ कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णुवर्चिर्वपुषामिदेकम्"
(ऋग्वेद मंड ४ अ० १ सू० ७ मंत्र ९)

अर्थ— हे ब्रह्मदेव ! (ते कृष्णं एम) तेरे कृष्णस्वरूप अर्थात् कृष्णावतारकी हम लोग शरण प्राप्त हों। सो तेरा कृष्णस्वरूप कैसा है ? कि (×रुशतः +पुरोभाः) जिसकी परमप्रकाशमय शोभा भक्तोंके आगे अथवा वसुदेव देवकीके सम्मुख शोभायमान होती है और (÷चरिष्णुः) जिसका सर्वत्र चलनेवाला तेज (वपुषाम्) शरीरधारियोंके शरीरमें सुन्दरताका मुख्य कारण है। अर्थात् उसी महाप्रभुकी प्रभामात्र छवि होकर सुन्दर पुरुषोंमें सुशोभित होरही है।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि उस महाप्रभुकी प्रभा जो

× रुशतः— रोचिष्णुवर्णाः ।

+ पुरोभाः— भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति ।

÷ चरिष्णुः— संचरणशीलमर्चिस्त्वदीयं तेजो वपुषां वपुष्मतां रूपवतां एकस्मिन् मुख्यमेव भवति (सायनाचार्यः)

समष्टि-स्वरूप है उसीकी एक व्यष्टि अर्थात् अंश इन सूर्य और चन्द्रमें सुशोभित है।

इसी कारण भगवान् यह कहकर, कि सूर्य और चन्द्रमें प्रकाश मैं ही हूँ। अपनी समष्टि प्रभाका संकेत कररहे हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु] चारों वेदोंमें प्रणव (ॐकार) मैं ही हूँ। अर्थात् बिना प्रणव कोई मन्त्र उच्चारण नहीं किया जाता। यदि उच्चारण कियाजावे तो बीजरहित समझा जावेगा। जैसे बीजरहित क्षेत्रमें नाज उत्पन्न नहीं होसकता ऐसे प्रणव (ॐकार) रहित मन्त्रोंके जपनेका कोई फल नहीं होसकता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि मन्त्रोंमें जो नाना प्रकारके प्रभाव हैं, वा मन्त्रोंसे जो नाना प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं और तिनमें जो शक्तियां हैं वे केवल ॐकारकी ही हैं। इसी कारण वेदोंमें ॐकार भी मैं ही हूं।

यह ॐकार क्या है? इससे सम्पूर्ण ब्राह्मण्डकी रक्षा कैसे होती है? इसके उच्चारणसे प्राणी मोक्षपदको कैसे और क्यों प्राप्त होता है? इस सबका विस्तारपूर्वक वर्णन अ० ८ श्लोक १३ में कियाजावेगा।

अब भगवान् कहते हैं, कि "शब्दः खे" आकाशमें जो शब्द है सो मैं ही हु। यहां भी भगवान्के कहनेका सो ही तात्पर्य है, कि मैं जो स्वयं समष्टिरूप शब्द हूं तिसकी व्यष्टि जो आकाशमें व्यापक है सो मैं ही हूं। यह शब्द दो प्रकारका है "ध्वन्यात्मक"

और "वर्णात्मक" सो ये दोनों सर्वत्र व्यापक हैं। क्योंकि आकाशका गुण शब्द कहागया है सो आकाश सर्वव्यापक है। इस-लिये उसका गुण शब्द भी ध्वन्यात्मक वा वर्णात्मक होकर सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि गुणीका गुण गुणीके साथ रहता है। ध्वन्यात्मक शब्दकी ओर दृष्टि दीजावे तो यह अथाह देखपड़ता है। क्योंकि मेघमालाकी गर्जना, बिजलीकी तर्जना तथा ह्रादिनी (ठनका) का ठनकना, अत्यन्त घोर भयंकर जिसे सुन मारे भयके हृदय कांप उठता है। कानोंको बन्द करना पडता है। फिर व्याघ्र और सिंहका गर्जन भी ऐसा घोर और भयानक होजाता है, जिसे सुन सभी भय खाते हैं। एवम्प्रकार कूकर, शूकर, शृगाल, बैल, भैंस, हस्ती, ऊंट, गर्धभ बकरा और भेड़ इत्यादि पशुओंके ध्वन्यात्मक शब्द तथा कोयल, काक, कीरे, कमेरी, कपोत चातक, चाहा, चकोर, शुक, सारिका इत्यादि पक्षियोंके ध्वन्यात्मक शब्दोंकी विचित्रता देखकर बुद्धिमानोंको "शब्द ब्रह्मका" बोध होकर आश्चर्य प्राप्त होता है, कि उस महाप्रभुने न जाने मृत्युलोकसे लेकर अन्य लोक-लोकान्तरोंमें कितने प्रकारके अनगिनत शब्दोंकी रचना की है? फिर इसी ध्वन्यात्मक शब्दको सितार, सारंगी, तानपूरा पखावज, बांसुरी, शंख, भेरी, पणव, आनक, सहनाई इत्यादि बाजा-ओंमें न जाने कैसी विचित्रता डालदी है, कि एक ध्वनि दूसरी ध्वनिसे नहीं मिलती। फिर आश्चर्य यह है? कि एक-एक ध्वनिमें ऐसा आकर्षण देदिया है, कि सुननेवालोंका चित्त चाहता है, कि इसे सुनते ही रहें॥

इसी प्रकार यदि वर्णात्मकशब्दकी ओर दृष्टि दीजावे तो बुद्धि

अथाह सागरमें ऊब-डूब होने लगती है । यह पता तो लगता ही नहीं, कि कब किस समय उस रचयिताने इतने प्रकारके वर्णात्मक-शब्द बनाये ? कि प्रत्येक चार योजनपर एकके बातचीत करनेका ढंग दूसरे स्थानवालोंसे नहीं मिलता । सो ये वर्णात्मक शब्द भी ग्राम, पत्तन, देश इत्यादिके भेदसे अनगिनत प्रकारके हैं । जहां बुद्धि कुछ भी काम नहीं करती, कि सर्वदेशके मनुष्योंकी जिह्वा जो एक अत्यन्त छोटासा मांसका खंड है इसमें कितने प्रकारसे फिरनेकी शक्ति प्रदान कीगई है । जिससे अनगिनत भाषायें ऐसी बन गयी है, कि एक देशका विद्वान् दूसरे देशकी भाषाको कुछ भी नहीं समझ सकता । मूर्खोंकी तो क्या गणना होसकती है ?

इसी प्रकार इस मर्त्यलोकसे इतर ये जितने तारागण हैं सब एक-एक लोक हैं । इन सबोंमें नाना प्रकारके प्राणियोंका निवास है । तिनको परस्पर संभाषण करनेके निमित्त न जाने कितने प्रकारके शब्द होंगे ? फिर कोई बुद्धिमान् इन वर्णात्मक-शब्दोंका क्या पता लगा सकता है ? छोटे-छोटे विद्वान् संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक, अरबी इत्यादिको पढकर बडे अहंकारके साथ अपनेको विद्वान् कहते हैं, पर उस महाप्रभुकी रचनाकी ओर यदि वे दृष्टि करें तो उनकी जिह्वा यह कहनेमें अवश्य मूक होजावेगी, कि कितनी प्रकारकी भाषायें इस ब्रह्माण्डमें हैं ? किसीको कुछ भी थाह नहीं लगता ।

यह तो उन शब्दोंका संक्षिप्त वर्णन हुआ जो ध्वन्यात्मक होकर इस शरीरके द्वारा बाहरकी ओर सुने जाते हैं । पर इनसे इतर इस

शरीरके अन्तर्मुख भी नाना प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। जिनको ❀ अनाहतध्वनि कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि (पौरुषं नृषु) मनुष्योंमें पुरुषार्थ भी मैं ही हूं। तात्पर्य्य यह है, कि बडे-बडे वीर बुद्धिमान् जो नाना प्रकारके यत्नोंको करके अत्यन्त कठिन कार्य्योंका साधन करलेते हैं। जिसे देख साधारण प्राणियोंको आश्चर्य्य होता है। ऐसे परिश्रमकी गणना पुरुषार्थमें ही कीजाती है। सो पुरुषार्थ मैं ही हूं। क्योंकि किसी प्रकारके यत्नमें यदि सहायता न करूं तो उस पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होसकती। इसी कारण जो कोई पुरुषार्थ करनेवाला यह अहंकार करे कि वह स्वयं अपने ही बलसे विद्या, पराक्रम, तेज, बुद्धि एवं साहस इत्यादिसे किसी कठिन कार्य्यको साधन करलेता है सो उसकी समझ मिथ्या है। इसलिये जो विद्वान्, बुद्धिमान और भगवत्‌की उपासना करनेवाला प्राणी है वह उस महाप्रभुकी ही प्रभुता स्मरण करता हुआ

❀ अनाहतध्वनिः— आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः। मध्ये मर्दलशंखोत्था घण्टाकाहलजस्तथा॥ अन्ते तु किंकिणी वंशी वीणाभ्रमरनिस्वनाः। इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥

अर्थ— अभ्यास करते-करते जब वायु स्थिर होकर ब्रह्मरन्ध्रको गमन करता है तब आदिमें समुद्र, मेघ, भेरी, डमरु ऐसे ऐसे शब्द, मध्यमें पणव, शंख, घण्टा आदिके शब्द और अन्तमें प्राणके अच्छे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर होनेसे किंकिणी, क्षुद्रघण्टिका, वेणु, बीणा और भ्रमर ऐसे शब्द शरीरके मध्य सुनपडते हैं।

अपने यत्नोंको आरम्भ करता है। और इतना दृढ निश्चय रखता है, कि अपने हाथसें खड्ग ले जब किसीपर चलावेगा तब ही उसका मस्तक छेदन होसकता है।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि पुरुषार्थ करने वालोंमें पुरुषार्थकी सिद्धिका कारण मैं ही हूं। सो पुरुषार्थ दो प्रकारका है लौकिक और पारलौकिक। लोकमें जो धन, सम्पत्ति, राज्यपाट इत्यादि-की प्राप्तिमें यत्न किया जाता है उसे लौकिक पुरुषार्थ कहते हैं। और मोक्षपदकी प्राप्तिके लिये जो किया जाता है उसे पारलौकिक पुरुषार्थ अथवा परमपुरुषार्थ कहते हैं। केवल लौकिक कार्य्योंके साधन निमित्त जो पुरुषार्थ है वह व्यष्टिरूप है और साधारण पुरुषार्थ है। एवम् मोक्षपदकी प्राप्ति निमित्त जो पुरुषार्थ है सो समष्टिरूप है और वही परमपुरुषार्थ है। सो सांख्यशास्त्रके कर्त्ता श्री कपिलदेव कहते हैं, कि 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' (सांख्य० अ० १ सू० १) अर्थात आत्मिक, दैविक, भौतिक तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति करडालनेको " अत्यन्तपुरुषार्थ " कहते हैं। क्योंकि संसृतिव्यवहारों की सिद्धिमें जो पुरुषार्थ किया जाता है वह दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं करसकता। जैसे भोजनरूप पुरुषार्थके करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति होती है। पर अत्यन्त निवृत्ति नहीं होसकती। क्योंकि थोडी देरके पश्चात फिर क्षुधा लगती है। भोजन करते जाओ, क्षुधा लगती जावे, जन्मसे मरणतक यह साधारण पुरुषार्थ करते चले गये पर क्षुधाकी निवृत्ति नहीं हुई। इसी प्रकार ज्वर, खांसी इत्यादि रोगोंकी

शान्ति निमित्त औषधि सेवनरूप पुरुषार्थको करते रहते हैं पर वे रोग फिर बार-बार लौटते हैं । इसी प्रकार लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनी असंभव है ।

पर सर्व प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाला जो भगवत्स्वरूप है तिसकी उपासनामें चित्तको लगादेना परमपुरुषार्थ है । भगवत्स्वरूप सर्व लोकलोकान्तरोंके विभवको प्राप्त करतेहुए इन्द्रादि देवगणसे भी स्तुति करातेहुए ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके विषय भोगोंको त्याग करतेहुए जो भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होती है सो तो अत्यन्त पुरुषार्थ है ही पर साधारण विषयादिकी प्राप्तिमें जो व्यष्टिरूप पुरुषार्थ है सो भी भगवत्हीका स्वरूप है ।

इसी कारण भगवान् लौकिक और पारलौकिक अर्थात् व्यष्टि और समष्टि-रूप पुरुषार्थोंका मुख्यरूप अपनेको बताकर अपनी उपासना करनेकी आज्ञा देरहे हैं ॥ ८ ॥

इस श्लोकमें भगवानने जलमें रस, सूर्य चन्द्रमें प्रभा, वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषार्थको अपना ही स्वरूप बताकर मणिकाकी मालाके समान सबोंका अपनेमें ओत-प्रोत होना अर्थात् गुँथाहुआ होना बताया और अपनी उपासना करनेका संकेत करतेहुए अपनेको समग्र बतानेकी जो प्रतिज्ञा की है सो धीरे २ अपना सारा वैभव बतातेहुए फिर आगे कहते हैं, कि—

मू०— पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— पृथिव्याम् (भूमौ धरायाम् वा) पुण्यः (विकाररहितः । पवित्रः सुरभिर्वा) गन्धः (ग्राह्यपृथिवीगुणआमोदः) विभावसौ (अग्नौ) च (तथा) तेजः (दहनप्रकाशनसामर्थ्यसहितम् सितभास्वरम् रूपम) अस्मि, सर्वभूतेषु (सर्वेषु प्राणिषु) जीवनम (प्राणधारणमायुः) च (तथा) तपस्विषु (तपोयुक्तेषु वानप्रस्थादिषु) तपः (शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वन्द्वे सहनसामर्थ्यरूपम्) अस्मि ॥ ९ ॥

पदार्थः— (पृथिव्याम) पृथिवीमें (पुण्यो) पवित्र और विकार रहित (गन्धः) गन्ध (विभावसौ) अग्निमें (तेजः) जलाने तथा प्रकाश करनेकी सामर्थ्ययुक्त जो अग्निकी आभा (च) सो भी (अस्मि) मैं ही हूं तथा (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें (जीवनम्) आयु (च) और (तपस्विषु) नाना प्रकारके तपस्वियोंमें (तपः) तपस्याकी शक्ति भी (अस्मि) मैं ही हूं ॥ ९ ॥

भावार्थः— जैसे पूर्व श्लोकमें भगवान्‌ने जल तथा सूर्य्य, चन्द्र इत्यादिमें अपने व्यष्टिरूपको दिखलातेहुए समष्टि स्वरूपका संकेत कर अपनी व्यापकता दिखलायी है अर्थात् सब वस्तुओंको अपनेमें पिरोया रहना दिखलाया है । इसी प्रकार इस श्लोकमें भी कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू यह निश्चयकर जानले, कि

[पुण्यो गन्धः पृथिव्यांच तेजश्चास्मि विभावसौ] पृथिवीमें जो पवित्र विकाररहित गन्ध है सो मैं ही हूं। अर्थात् गन्धरूप होकर जो मेरा समष्टिस्वरूप सर्वत्र व्यापरहा है उसमेंसे थोडासा अंश व्यष्टि-रूप होकर जो पृथ्वीमें फैला है वह भी मैं ही हूं और अग्निमें तेज मैं ही हूं।

शंका— "पुण्यो गन्धः" क्यों कहा? गंधके साथ पुण्य शब्दके प्रयोग करनेका क्या तात्पर्य्य? केवल इतना ही कहते, कि पृथ्वीमें गंध मैं ही हूं तो क्या हानि थी?

समाधान— गन्ध दो प्रकारका है— सौरभ और असौरभ। तहां प्रमाण— "घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः। सौरभश्चा सौरभश्च स द्वेधा परिकीर्त्तितः" ॥ (भाषापरिच्छेद श्लो० १०३)

अर्थ— नासिकेन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य नासिकाका उपकार करनेवाला सौरभ और असौरभ दो प्रकारका गन्ध है। फिर इनके दस भेद हैं— "इष्टोऽनिष्टश्च गन्धश्च मधुरोऽम्लकटुस्तथा। निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च" ॥ (कल्किपु० अ० ६८)

१. इष्टः— जैसे कस्तूरी इत्यादिका गन्ध।

२. अनिष्टः— जैसे मृतकशरीरादिका गन्ध।

३. मधुरः— जैसे वेली, चमेली पाटलादि पुष्पोंके गंध।

४. अम्लः— जैसे नीबू, आम्रादिका गन्ध।

५. कटुः— जैसे मरीचि, पिप्पलादिका गन्ध ।

६. निर्हारी— जैसे हिंगु, जीरा इत्यादिका गन्ध ।

७. संहतः— अनेक प्रकार गंधमिश्रित गंध, जिसे चित्त-गंध भी कहते हैं । जैसे आजकल बहुत प्रकारके इत्रोंको मिलाकर फितना बनाते हैं ।

८. स्निग्धः— जैसे तुरंतके तपायेहुए घृतादिका गन्ध ।

९. रूक्षः— जैसे सरसों इत्यादिके तैलका गन्ध ।

१०. विशदः— जैसे अन्नादिका गन्ध ।

एवम्प्रकार ये नाना प्रकारके गन्ध जो इस मर्त्यलोकमें फैले हैं इनसे इतर भी अनेक प्रकारके गन्ध हैं । जो इन्द्रलोकके नन्दनवनमें पुष्प, फल, पत्तोंके साथ मिश्रित हैं । इतना ही नहीं वरु ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने लोकलोकान्तर हैं सबोंमें उनकी अपनी-अपनी घ्राणोंकी रचनानुसार सौरभ और असौरभ गन्ध रचेहुए हैं । जिनकी गणना नहीं होसकती । इसी कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जो विचित्र गन्ध फैलेहुए हैं वे सब मिलकर समष्टिरूप गन्ध हैं । इसी समष्टि-रूप गन्धसे जो इस मर्त्यलोकमें पृथ्वीके साथ व्यष्टिमात्र सौरभ (गन्ध) है उसीको पुण्यगन्ध कहते हैं । सो भगवान् कहते हैं, कि वह गन्ध मैं ही हूं ।

पर इस पृथ्वीमें व्याप्त व्यष्टिरूप जो सौरभगन्ध है उसके भी पांच भेद हैं— “ गन्धं च सम्यक् शृणु त्वं पुत्र वैताल भैरवम् ।

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहाकर्षित एव वा ॥ रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यङ्गोद्भव एव वा । गन्धः पंचविधः प्रोक्तो देवानां प्रीति दायकः ॥ " (कल्किपु० अ० ६८)

अर्थ— प्रथम चूर्णीकृत गन्ध है जिसे चूर्ण कियाहुआ कहते हैं। जैसे जटामांसी, सुवर्णकेतकी, सुगन्धिकुसुमा, (पृक्का) सुगंधिमूल, देवनारि, गीर्व्वाण कुसुम (लवंग) लवंगकलिका, पत्रज, तज, केसरे इत्यादि ये सब चूर्ण करनेसे गन्ध अधिक देते हैं। इसलिये इनसे जो गन्ध उत्पन्न होता है वह चूर्णीकृत गन्ध है।

२. दूसरा वह है जिसे घृष्ट (घिसाहुआ) कहते हैं। जैसे मलय, अगरु, नमेरु इत्यादि।

३. तीसरा वह है जिसे दाहाकर्षित कहते हैं अर्थात् अग्निसे जलानेसे जिसका सुगन्ध फैलता है । जैसे देवदारु, कर्पूर, अगरु, ब्रह्मशाल, सारान्त, चन्दन, प्रिया इत्यादि।

४. चौथा वह है, जिसे सम्मर्द्दज कहते हैं अर्थात जिसको निचोडनेसे सुगन्ध फैलता है। जैसे जम्भकुश (गुलाबकांडा) सगंध, करवीर, विल्वगंधिनी।

५. पांचवां गंध वह है जिसे प्राण्यंगज कहते हैं। जैसे मृग-नाभ (कस्तूरी)।

ये पांच ही प्रकारके सौरभ गन्ध होते हैं । इन्हींको पुण्यगन्ध भी कहते हैं। क्योंकि नाना प्रकारके यज्ञोंमें तथा देवता, पितरोंकी

पूजा इत्यादिमें ये ही पांचों प्रकारके गन्ध व्यवहारमें लायेजाते हैं। इन पांचों प्रकारके गन्धोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है। क्योंकि इनमें बहुतेरे तीन और बहुतेरे दो ही प्रकारसे गन्धदायक हैं। और देवता पितरोंको प्रसन्न करनेवाले हैं। जिससे पुण्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि पृथिवीमें पुण्यगन्ध मैं ही हूं! अर्थात् कस्तूरी, कर्पूर कुमकुम, अगरु, चन्दन, मलय इत्यादिमें मैं ही गन्धका कारण हूं।

श्यामसुन्दरका तो शरीर ही मानो सर्व प्रकारके सौरभ-गन्ध अर्थात् पुण्यगंधोंका एक समूह है। क्योंकि आपके तो अंग-अंगसे सारे ब्रह्माण्डमें गंध फैलेहुए हैं। आपके शरीरपर गोकुलमें जो भौंरे आकर बैठजाया करते थे उनको तो भगवान्‌के शरीरसे कमलका गंध ही निकलता हुआ बोध होता था। इसलिये भगवान् तो गंधोंके कारण हैं ही। फिर केवल पृथिवीमें व्याप्त गंधोंको अपनेमें पिरोयाहुआ अर्थात् सर्व गंधोंको अपनेमें ओत-प्रोत कहा तो फिर इसमें कुछ शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि "तेजश्चाऽस्मि विभावसौ" अग्निमें तेज मैं ही हूं अर्थात् अग्निमें जो प्रकाश करने और जलादेनेकी उज्वल प्रभा है वह मैं ही हूं। इस प्रभा और तेजके विषय इससे पूर्व-श्लोकमें बहुतकुछ कहागया है। इसलिये फिर कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी आपकी प्रभाके अर्थात् तेजके समष्टि-स्वरूपकी स्तुति चारों वेद कररहे हैं। "ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" (वाजसनेयी संहिता अ० १ मं० ३१)

अर्थ— हे ब्रह्मदेव! तुम तेज हो, शुक्र हो और अमृतस्वरूप हो।

अर्थात् तेजद्वारा शुक्ररूप होकर जलकी वृष्टिसे अन्नादिके बढानेवाले हो। इसी कारण तुम अमृतस्वरूप हो। फिर ऋग्वेदका वचन है, कि "तेजोऽसि तेजो मयि देहि" हे ब्रह्मदेव! तुम तेज हो इसलिये तुम उसी अपने तेजमेंसे मेरेलिये तेज प्रदान करो! अर्थात् मुझको तेजस्वी बनाओ। फिर ऋग्वेदका ही मंत्र है, कि "ॐ जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः" (ऋग्वे॰ अष्टक १ अ॰ ७ वर्ग ७ में देखो) अर्थात् जातवेदस कहिये अग्निको तिस अग्निके दहन करनेवाले तेजमें सुनवाम हवन करते हैं सो * तेज कैसा है? कि मेरे दुःखोंको अर्थात् तीनों तापोंको जो शत्रुरूप है नाश करनेवाला है फिर सामवेद भी इस तेजकी स्तुति कररहा है— "त्वेषस्ते धूम ऋणवति दिविस छं छुक्र आततः। सूरो नहि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥" (सामवेद अग्निपर्व अ॰ १ खं॰ ६ मं॰ ३-२३)

अर्थ— हे शोधक अग्ने! तुमसे दीप्तिका निर्म्मल शुभ्रवर्ण धूम अन्तरिक्षमें फैलताहुआ मेघरूप होकर चलता है। फिर हे अग्नि-देव! तुम कैसे हो, कि सूर्य्यके समान अपनी समर्थ दीप्तिसे सर्वत्र प्रकाशके फैलानेवाले हो।

* जबतक तेज अर्थात् अग्निकी ताप नहीं बढती तबतक जलकी वृष्टि नहीं होती। सभी जानते हैं, कि आज प्रचण्ड गरमी है, अधिक ताप होरहा है अवश्य वर्षा होगी इसी "अग्नेः" अग्निसे जलकी उत्पत्ति कही गयी है।

अथर्व वेद भी इस ब्रह्मदेवके समष्टिरूप तेजकी स्तुति करताहुआ कहता है, कि " ॐ अग्निं प्रपद्यामि मनसा " मैं मनसे + अग्निकी विनय करता हूं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह जो तेज अग्निमें है उसे मैं वन्दन करता हूं।

अबभगवान् कहते हैं, कि [जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु] सब प्राणियोंमें जीवन अर्थात् आयु मैं ही हूं और

+ इस अग्निको " सप्तजिह्वा " के नामसे पुकारते हैं। क्योंकि इस अग्निमें जो तेज है उसकी सात जिह्वाएं हैं— काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुचि इन्हीं सातों जिह्वाओंसे अग्निदेव यज्ञादिके हविष्यको ग्रहण करते हैं। तहां श्रुति कहती है —

" एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहुतयो ह्याददायन् तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ " (मुं० १ खं० २ श्रु० ५)

अर्थ— इन दीप्तिमान् सातों जिह्वाओंमें जो यजमान कालके नियमानुसार प्रातः वा सायं हवनको करते हैं उनको ये जिह्वाएं सूर्यकी किरणोंसे होकर वहां पहुंचाती हैं जहां सब देवोंका पति इन्द्रदेव सबोंसे उच्चस्थानमें निवास करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह परमात्मा जो तेजस्वरूप होकर सब तैजसपदार्थोंमें समष्टिरूपसे व्यापरहा है। उसका एक व्यष्टिरूप श्वेत तेज होकर इस अग्निमें व्यापता है। इसी कारण श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अग्निके तेजको संकेत करके अपने संपूर्ण तेजका कथन करदिया।

तपस्वियोंमें तप मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि जबतक मैं स्वयं इन भूतोंके साथ निवास करता हूँ तब ही तक ये भूत जड वा चेतन वर्त्तमान रहते हैं सो "जीवत्यनेनेति" इस वचनके अनुसार जो अण्डज, पिण्डजादि चार खानिके जीव जिसके द्वारा जीते हैं अर्थात् वर्त्तमान रहते हैं सो जीवन मैं हूं।

चेतन भूतोंके साथ तो मैं प्राण होकर निवास करता हूं। सो प्राण इनके पूर्वजन्मार्जित कर्मोंके अनुसार नियमित कियाहुआ है। अर्थात् "प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणो हि भूताना-मायुः" इस श्रुतिके वचनानुसार प्राण ही करके ये प्राणी जीते हैं और प्राण ही इनकी आयु है। सो प्राण मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि सब प्राणियोंका प्राण मैं हूं। मैं अपनी परा शक्तिसे जब-तक वर्त्तमान रहता हूं तब ही तक उनकी स्थिति रहती है। नहीं तो वे सब विनशकर परमाणुरूप होकर आकाशमें फैलजाते हैं।

भगवानने सर्व भूतोंमें अपनेको उनका जीवन कहा। इस श्लोकमें अपनेको सर्वभूतोंका जीवन कहनेसे भगवान्का मुख्य तात्पर्य यह है, कि अपरा और परा अर्थात् निकृष्ट और उत्कृष्ट विशेष प्रकृतिसे मैं इनको धारण किये रहता हूं। इन दोनों प्रकृति-योंका वर्णन भगवान् इसी अध्यायके चौथे पांचवें श्लोकोंमें पूर्णरीतिसे करचुके हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान् कूटस्थ और चिदाभास अपने दोनों स्वरूपोंको इन दोनों प्रकृतियों द्वारा दिखला रहे हैं।

कैसे दिखलारहे हैं? और इन दोनोंके स्वरूप क्या है ? सो सुनो—

प्रमाण— "खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थ जीवेन भास्यते ॥"

(पंचद० प्रक० ८ श्लो० १)

इसकी टीका करतेहुए श्री विद्यारण्यके शिष्य श्री रामकृष्ण कहते हैं, कि "अनेन सामान्यतो विशेषतश्च कुड्यावभासकादित्यप्रकाशद्वयमिव देहावभासके चैतन्यद्वयमस्तीति प्रतिज्ञानं भवति"

अर्थ— ख जो आकाश उसमें जो आदित्य (सूर्य) का प्रकाश फैलाहुआ है उसे 'खादित्य' कहते हैं और दर्पणमें जो आदित्यका प्रकाश है उसे 'दर्पणादित्य' कहते हैं। अर्थात् जैसे कुड्य (भींत) दीवालपर जो प्रकाश पडता है वह सामान्य प्रकाश है। और उसी भींतमें जो बहुतसे दर्पण जडदिये जावें तो उन दर्पणोंमें जो प्रकाश पडेगा वह विशेष प्रकाश कहलावेगा। सो जैसे भीत (दीवाल) वाले सूर्यका प्रकाश सामान्य-रूपसे है और दर्पणके भीतर सूर्यका प्रकाश है वह विशेष रूपसे है। इसी प्रकार अपरा प्रकृतिसे बनीहुई पांचभौतिक भीत (दीवाल) पर तो ब्रह्मका सामान्य प्रकाश (जिसे कूटस्थ कहते हैं) सुशोभित है। और परा प्रकृति जीवभूतापर उसका चिदाभासरूप विशेष प्रकाश शोभायमान होरहा है।

शंका— ब्रह्म-प्रकाश यदि दो प्रकारका हुआ तो दो प्रकारके प्रकाशोंके होनेका विकार उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ। ऐसा नहीं होना

चाहिये । क्योंकि ब्रह्म एक है तो प्रकाश भी उसका एक ही होगा दो क्यों कहा ?

समाधान— सो सत्य है प्रकाशके दो प्रकार नहीं हैं प्रकाश तो एक ही है पर वह प्रकाश जिन वस्तुओंपर पडता है उनकी रचनामें भेद होनेसे प्रकाशका भेद कहना वाचामात्र विकार है। जैसे पहले कहआये हैं, कि सूर्यका एक ही प्रकाश (कुडच) भीतपर पडनेसे सामान्य रूपसे देखा जाता है और जिससे फिर कोई दूसरी वस्तु प्रकाशित नहीं होसकती। पर जो दर्पणमें प्रकाश पडता है तिससे फिर दूसरी वस्तु भी प्रकाशित होसकती है। दर्पणसे जो गोलाकार प्रकाश पडता है किसी दीवाल पर वा छतपर डालो तो वह विम्ब गोलाकार ही सर्वत्र पडेगा। इसी प्रकार अपरा प्रकृतिपर जो ब्रह्म-प्रकाश पडरहा है वह केवल पंचभूत तथा मन, बुद्धि, अहंकारका वर्त्तमान रखनेवाला है। जैसे सूर्यके प्रकाश से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी वस्तु दीखने लगजाती हैं इसी प्रकार ब्रह्म-प्रकाशके जिस अंशसे ये आठ प्रकृतियां जिनको अपरा कहते हैं प्रकाशित होती हैं, वही कूटस्थ कहलाता है। जो अपने स्थानसे हिलता नहीं अर्थात् सृष्टि होते समय इस कूटस्थ ब्रह्म-प्रकाश द्वारा सर्व-वस्तुओंमें जो शक्ति दीगयी वही प्रलयकाल तक इस अपरा प्रकृतिरूप भीतपर बनी रहेगी। इसमें किसी प्रकारका न्यूनाधिक्य (कमी बेशी) नहीं होगा । इसीलिये यह कूटस्थ-ब्रह्म कहा जाता है।

अब चिदाभासब्रह्मका वर्णन सुनो—

उक्त दो प्रकारकी प्रकृतियोंमें जो परा प्रकृति है जिससे यह सम्पूर्ण जगत्

वर्त्तमान है और चेतन है जिसे जीव भी कहते हैं तिस जीवभूता प्रकृतिके ऊपर जो ब्रह्मका प्रकाश पडरहा है उसे ही चिदाभास कहते हैं। भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि चेतन-वस्तुओंमें जीव मैं ही हूं। अर्थात् मैं अपने चिदाभास-स्वरूपसे प्रकाश कररहा हूं। विशेष अभिप्राय यह है, कि सामान्य वस्तुओंमें कूटस्थ और विशेष वस्तुओंमें चिदाभासरूपसे वर्त्तमान रहता हूं। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि (तपश्चास्मि तपस्विषु) तपस्वियोंमें तप भी मैं ही हूं। अर्थात् कृच्छ्र, चान्द्रायण, मौन, उपवासादि जो कष्टसाध्य (कठिन) क्रियाएँ हैं सो सब मैं ही हूं। तपका अर्थ ही नाना प्रकारके तापोंका सहना है। (तप उपतापे) धातुसे तापति वा तपयति बनता है। (सर्वधातुभ्योऽसुन् उण० ४-१८८ इति असुन्) अर्थात् शरीरको तपनकरनेवाले कायाक्लेश इत्यादिके सहनेमें जो धीरता है अर्थात् स्थिरता है सो मैं ही हूं। इसी कारण जितने प्रकारके तप करनेवाले हैं सब मेरे तपरूप महा ऐश्वर्य्यमें पिरोयेहुए हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यदि वह महाप्रभु सहायता न करे, अपनी प्रवल शक्तिको प्राणीके शरीरसे आकर्षण करलेवे तो जैसे सार (घृतके) खींच लेनेसे दुग्धका रूप कुछ रहता नहीं केवल खट्टा जलमात्र कांजी होकर रहजाता है, जिसमें कुछ भी पुष्टता नहीं रहती। इसी प्रकार यदि वह महाप्रभु तपस्वियोंसे अपने तपस्वरूपको खींच लेवे तो वे तपस्वी एक क्षण भी तपके साधनमें समर्थ न होंगे। वह जितने तपस्वी हैं सब तपस्या छोड-छोड घर लौट फिर ज्योंके त्यों महा

दीन और दुखी हो इधर-उधर मारे २ फिरेंगे। इसलिये यह निश्चय है, कि तपस्वियोंमें स्वयं भगवान् ही तपस्वरूप हैं। जैसे भगवत्सत्तारूप सूतके आधारपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके ब्रह्मा तथा सनक, सनन्दन, नारदादि सहस्रों ऋषि मुनि पिरोयेहुए हैं सो जो तपोबल है वह स्वयं भगवानका ही रूप है जिसमें बहुत बडा और विशेष महत्त्व है। प्राणी तपोबलसे जो कुछ चाहे करसकता है। तपहीके बलसे ब्रह्मा सृष्टिकी रचना करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं। फिर कैसा भी निर्बल प्राणी क्यों न हो तपोबलसे सबकुछ प्राप्त कर-सकता है। वह्निपुराणका वचन है, कि "तपसा क्षीयते पापं मोदते सह दैवतैः। तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः॥ तपसा सर्वमाप्नोति तपसा विन्दते परम्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः सौभाग्यं रूपमेवच॥" (अर्थ स्पष्ट है)

फिर यह तप तीन प्रकारका है शारीरिक, वाचिक और मानसिक फिर इस एक-एकके तीन-तीन भेद हैं सात्विक, राजस, और तामस। एवम्प्रकार इस तपके नव भेद हुए इन नवों प्रकारके तपोंका वर्णन विधिपूर्वक इस गीताके सतरहवें अध्यायके श्लोक १४ से १९ तक कियागया है, देखलेना! सो इन नवों प्रकारके तपस्वियोंमें जो तपबल है सो भगवान्का ही विशेष स्वरूप है।

इस तपका दूसरा अर्थ मनकी एकाग्रता भी है। श्रुतिः— "ॐ मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यमेव परमं तपः" मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको तप कहते हैं सो भगवान् कहते हैं, कि यह एकाग्रतारूप तप भी मैं ही हूं।

भगवान्का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिस समय प्राणीकी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको और सत्व, रज, तम, तीनों गुणोंको हटाकर आत्मामें एकाग्रता होजाती है उस समय वह प्राणी भगवान् का ही स्वरूप है । क्योंकि उस समय वह तुर्यावस्थित होकर परमानन्द और परम-सुखको लाभ करता है। सो परमानन्द और परम सुख भगवान् का ही स्वरूप है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि तपस्वियोंमें तप मैं ही हूं ।

फिर इस विषयमें पतंजलिका यह मत है, कि " कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः " अर्थात् मल, आवरण और विक्षेप रूप जो अन्तःकरणकी अशुद्धियां हैं, अथवा इन्द्रियोंके द्वारा नाना प्रकारके पापोंकी जो अशुद्धियां हैं, वे सबकी सब तप करनेसे क्षय होजाती हैं। जिनके क्षय होजानेसे काया और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है। और अन्तःकरण मलादिसे शुद्ध होजाता है। इस प्रकार शुद्धिके प्राप्त होनेसे कायाकी सिद्धि होती है अर्थात् अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म पदार्थोंका देखना, अत्यन्त दूर-दूरके शब्दोंका सुनना, वस्तुको जिह्वापर रखनेहीसे उसकी मिश्रित वस्तुओंके स्वाद द्वारा उन वस्तुओंका बोध होना इत्यादि - इन्द्रियोंकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं । तहां व्यासदेव लिखते हैं, कि " तपः समभ्यस्य मानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुचिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति, चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयः तत् क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादि सामर्थ्य-

माविर्भवति, कायस्य यथेच्छमणुमहत्वादीनि” इन वचनोंका अर्थ वही है जो पहले कह आये हैं ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की, कि “सर्वाणि भूतानि स्वकारणे प्रोतानि कथं तेषां त्वयि प्रोतत्वम्” हे भगवन् ! सब भूतमात्र अपने २ कारणमें प्रोत हैं तो तुमने अपनेमें इनको प्रोत कैसे कहा ?

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्र अर्जुन !) सर्वभूतानाम् (ब्रह्माण्डकानां चराचराणाम्) सनातनम् (नित्यमुत्तरोत्तर सर्वकार्येषु अनुस्यूतम्) वीजम् (सूक्ष्मादि कारणम् । सजातीयकार्योपपादनसामर्थ्यम्) माम् (वासुदेवम्) विद्धि (जानीहि [यस्मात्] अहम् (परमेश्वरः) बुद्धिमताम् (तत्त्वनिश्चयसमर्थानाम्) बुद्धिः (तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यम् प्रज्ञा वा) तेजस्विनाम् (प्रागल्भ्ययुक्तानाम्) तेजः (प्रागल्भ्यम्) अस्मि ॥ १० ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू (सर्वभूतानाम्) ब्रह्माण्डमें जितने जड चेतन हैं सबोंका (सनातनम् वीजम्) नित्य तथा अनादि कारण (मां, विद्धि) मुझको जान ! क्योंकि (बुद्धिमताम्) तत्त्वके निश्चय करनेवाले बुद्धिमानोंमें (बुद्धिः) तत्त्वोंके निश्चय करनेकी सामर्थ्य तथा (तेजस्विनाम्)

तेज धारियोंमें (तेजः) पराक्रम (अहमस्मि) मैं ही हूं ॥ १० ॥

भावार्थः— भगवानने जो पूर्व दो श्लोकोंमें सब वस्तुओं को अपनेमें ओत-प्रोत कहा इसपर अर्जुनको शंका हुई, कि जितनी वस्तु इस विराट्में हैं सब अपने-अपने कारणमें ओत-प्रोत हैं फिर तुमने अपनेमें प्रोत क्यों कहा ?

इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि हे पृथा का पुत्र अर्जुन ! तेरी शंका तो निस्सन्देह सच है। पर जो अल्प-बुद्धि हैं जिनको ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञान तथा मुझ महेश्वरके यथार्थ स्वरूपका बोध नहीं है, वे ही प्रत्येक वस्तुके कारणको मानते हैं। ऐसा माननेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी। क्योंकि जब एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु मानी जावेगी तो उस दूसरी वस्तुका भी कारण तीसरी वस्तु माननी पडेगी फिर उस तीसरीका भी कारण चौथी वस्तु माननी पड़ेगी। एवम्प्रकार कारण कार्य मानते-मानते कहीं ठिकाना नहीं लगेगा तो × अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी। जैसे वृक्षका कारण बीज मानाजावे तो उस बीजका भी कारण वृक्ष मानना पडेगा। एवम्प्रकार वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष बारम्बार मानते मानते यह सिद्धान्त नहीं होसकता, कि यथार्थमें कौन किसका कारण है ?

× अनवस्था— अप्रमाणिकानन्तप्रवाहमूलकप्रसंगत्वम् तर्कविशेषः।
(तार्किकाः)
उपपाद्योपपादकयोरविश्रान्तिः (मीमांसकाः) (स्थित्यभावः)

पहले क्या है? वृक्ष है, कि बीज है इसीको अनवस्था दोष कहते हैं। इसी कारण यह सिद्धान्त किया हुआ है, कि सब कारणोंका एक महा कारण मानना चाहिये तो महा कारण वही होगा जो सबसे पहले होगा ।

सो इस सृष्टिका महा कारण अर्थात् सनातन वीज वह परमेश्वर ही है। क्योंकि जब कोई एक सृष्टि मानी जावेगी तो उससे भी पहले एक सृष्टि माननी पडेगी । तात्पर्य यह है, कि जबसे राजा होता है तब ही से उसका राज्य भी होता है, सो इस सृष्टिका राजा परमेश्वर अनादि है उसका आदि नहीं अर्थात् ऐसा कोई नहीं कहसकता, कि वह सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर अमुक साल वा घडीसे है । वह तो अजन्मा है, अविनाशी है इसलिये उसकी सृष्टिको भी अनादि कहना पडेगा । चाहे किसी सृष्टिकी गणना वा विचार क्यों न कियाजावे ! उसका नित्य वीज अर्थात् नित्य कारण जिसका कोई दूसरा कारणान्तर न हो केवल वही परमेश्वर मूल कारण है । क्योंकि उसीसे सबकी उत्पत्ति है पर उसकी उत्पत्ति किसीसे नहीं है ।

" स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० १ सूत्र २६)

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि जो सबसे पूर्व हैं उनका भी वह गुरु है अर्थात् उनसे भी पहलेसे है । क्योंकि वह कालके आधीन नहीं उससे इतर सब कालके आधीन हैं, उत्पत्ति विनाशके आधीन हैं । केवल वही एक वासुदेव आनन्दकन्द कृष्णचन्द कालसे रहित है। चाहे

करोड, दो करोड, अरब, खरब, नील, संख्य, महा संख्य तथा असंख्य और अनगिनत सहस्रों वर्षोंको क्यों न एकत्र करलो पर वह वासुदेव उनसे भी पहलेसे है इसलिये वही नित्य है। जो नित्य होगा और सबसे पहलेसे होगा वही सबोंका कारण अर्थात् सनातन वीज होसकता है। इसलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**] हे पार्थ ! सब भूतोंका सनातन वीज मुझहीको जान ! नित्य कारण मैं ही हूं मुझसे इतर कोई दूसरा कारणान्तर नहीं है।

शंका— बहुतेरे विद्वानोंको यह शंका होती है, कि सृष्टिका नित्य कारण उस ब्रह्मदेवको क्यों कहते हो ? वह तो सृष्टिका कारण नहीं है कारण तो परमाणु है परमाणुसे सब उत्पन्न होते हैं और फिर उसी परमाणुमें लय होजाते हैं। सो परमाणु नित्य है और वही परमाणु स्वयं बनता विनशता रहता है। इसी कारण न्यायशास्त्रवालोंने इन पञ्चमहाभूतोंको परमाणुरूप करके नित्य कहा है। विषयकरके ये अनित्य हैं जैसे इतनी बडी पृथ्वी लम्बी चौडी सहस्रों योजनके विस्तारमें जो फैलीहुई है सो विषयरूप पृथ्वी है स्वरूप करके जो कुछ देखा जाता है वह प्रलयकालमें नाशको प्राप्त होता है। अर्थात् प्रलयकालमें जब जलका प्रवाह बढता है तो उस समय यह पृथ्वी जलमें ऐसे गलजाती है जैसे एक घडे पानीमें एक रत्तीमात्र लवणकी कंकरी जिसका पता ही नहीं लगता, कि क्या हुई। इसी प्रकार पृथ्वी का पता प्रलयकाल में कहीं भी नहीं लगता। पर जैसे रत्तीमात्र लवण की कंकरी जलमें

लय तो होगई पर परमाणुरूप होकर फैलगयी एक बारगी नाशको प्राप्त नहीं हुई अर्थात् एक बारगी उसका अभाव नहीं होगया यदि उसे बोध किया चाहें, कि इस जलमें वह कंकरी है वा नहीं तो आचमन करनेसे बोध होजावेगा, कि है। फिर किस स्वरूपमें है ? तो कहना चाहिये कि परमाणुस्वरूपमें है। परमाणु कहते हैं अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थको जो आंखोंसे विना किसी अन्य सहारेके देखा नहीं जाता। जैसे इंधन अग्निमें जलकर कोयला होजाता है फिर उस कोयलेको जलाओ तो जलकर भस्म होजाता है उस भस्मको वायुमें उडादो तो उसकी जो अत्यन्त छोटी-छोटी कणिकायें होती हैं, जिनको आंखें देख नहीं सकतीं आकाशमें फैलजाती हैं उन्हींको परमाणु कहते हैं।

प्राचीनकारिका वालेका सिद्धान्त है, कि—

" पृथिव्यादि भूतचतुष्टयानां द्व्यणुकानामवयवः स च नित्यः निरवयवः ततः किमपि सूक्ष्मं नास्ति " अर्थात् पृथिवी, जल इत्यादि चार तत्त्वोंके द्व्यणुक अवयव हैं उन्हींको परमाणु कहते हैं सो नित्य हैं और स्वयं निरवयव हैं उनसे बढकर अधिक सूक्ष्म और कुछ भी नहीं है। जैसे लवणकी डली और कोयलेकी डली गलकर और जलकर छोटे-छोटे परमाणुओंमें रहजाती हैं और जो नित्य हैं जिनका नाश नहीं होता। इसी प्रकारे " प्रलयेऽतिस्थूलस्थूलना-शानन्तरं परमाणुक्रियाविभागपूर्वसंयोगनाशादिक्रमेण द्व्यणुकना-शात्तिष्ठन्ति परमाणवः वोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः। "

अर्थ— लवणकी डलीकी जो उपमा दीगयी है तैसे ही पृथिवी

जलमें गलके तथा जल अग्निमें शुष्क होकरे, अग्नि वायुमें बुझकर और सो वायु आकाशमें फैलकर रहजाती है । इन चारों तत्त्वोंके स्थूल शरीरका नाश होकर पश्चात् सृष्टिके समय जो इन परमाणुओंका मेल हुआ था तिस संयोगका नाश होना आरम्भ होता है । तब त्रस-रेणु जो तीन-तीन परमाणुओंका मेल हुआ था सो नाश होकर द्व्यणुक रहता है अर्थात् दो-दो अणुओंका मेल रहजाता है । फिर उस द्व्यणुक अर्थात दो-दो अणुओंके मेलका भी नाश होकरे केवल अणुमात्र रह-जाता है । फिर दो-दो परमाणुओंके मेलको अणु कहते हैं सो अणु विभाग पाकर परमाणु होरहता है । इसी सिद्धान्तको प्राचीन कारिका वाले कहकर अब कहते हैं, कि प्रलयकालमें सब कुछ नाश होकरे केवल परमाणु रहजाता है सो नित्य है और फिर सृष्टिकालमें इन्हीं परमाणुओंके मेलसे सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति होकर सृष्टि बढती है सो परमाणु नित्य हैं और नष्ट नहीं होते । इसलिये इसी परमाणुको सृष्टि का नित्य, सनातन और आदि कारण कहना चाहिये ।

श्रीमद्भागवतमें भी इन परमाणुओंके विषय तीसरे स्कन्धके ११ वें अध्याय श्लोक ५ में मैत्रेयजी विदुरसे कहते हैं, कि—

" अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः । जालार्क रश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ।"

अर्थ— दो-दो परमाणुओंका एक अणु होता है । वह अणु तीन हों तो एक त्रसरेणु मानाजाता है । किसी झरोखे होकर वा छिद्र होकर जो सूर्यकी किरणोंके साथ घरमें बहुतसे रजके कण (धूलिके छोटे-

छोटे टुकड़े) आकाशमें उडते हुए देखेजाते हैं उनमें जो अत्यन्त छोटा होता है उसे त्रसरेणु कहते हैं। वह अत्यन्त हलका होनेके कारण भूमि पर नहीं गिरता तहाँ तीन-तीन परमाणुओंका मेल है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस भागवत्के प्रमाणसे भी यही सिद्ध हुआ, कि सृष्टिका आदि, सनातन और नित्य कारण यह परमाणु ही है और प्रलयकालके अन्तमें भी यही रहजाता है, इसका नाश नहीं होता। फिर भगवानने न्यायशास्त्र और श्रीमद्भागवतका तिरस्कार कर ऐसा क्यों कहा, कि 'बीजं मां सर्वभूतानाम' हे पार्थ! सब भूतोंका आदि कारण मुझको ही जान!

समाधान— इसमें तो सन्देह नहीं, कि परमाणु नित्य है और पृथ्वी, जलादि चार तत्त्वोंका कारण है। इसीसे ये तत्त्व बनते हैं पर यह तो सिद्धान्त है, कि यह परमाणु जड है इसमें ज्ञानशक्ति नहीं है केवल क्रियाशक्ति हो तो हो। इसी कारण भगवानने पहले ही इस अध्यायके ४, ५ श्लोकोंमें अपनी दो प्रकृतियोंको कहकर इन पृथ्वी, जल इत्यादिकोंको अपरा (निकृष्ट) प्रकृति कहा है। और दूसरी प्रकृतिको जिसे जीवभूता प्रकृति कहते हैं चेतन अर्थात् ज्ञानशक्तिवाली बताया है।

जैसे नाजका बीज जिसमें अन्न उत्पन्न करनेकी शक्ति है स्वयम् उछलकर किसी खेतमें पडकर नाज नहीं प्रकट करसकता। तहां एक चेतन मनुष्यकी सहायताकी आवश्यकता होगी तब कहीं नाज खेतमें बोया जावेगा। इसी प्रकार सृष्टिके फैलनेमें भगवान्

की सहायताकी नितान्त आवश्यकता है। जबतक वह अपनी चेतन-शक्तिद्वारा सहायता न करे और केवल इन जड परमाणुओंको मिलाकर किसी विशेष रंग-रूपका न बनावे तबतक इन परमाणुओंके मेलकी रचनामें विचित्रता नहीं होसकती। जैसे रजके कण जो परमाणुओंका मेल है उसे एकत्रकर मिट्टीका पिण्ड बना चाकपर रखकर छोडदियेजावें तो स्वयं न वह चाक हिलेगा, न कोई पात्र बनेगा और न उन पात्रोंके-बननेमें घट दीवट इत्यादिकी विचित्रता ही रहेगी।

बुद्धिसे विचारने योग्य है, कि जिस समय माली दस-पांच प्रकारके बीजोंको लेकर पुष्पवाटिकामें वपन करदेता है उस समय कोई दूसरा यंत्र वा किसी प्रकारका रंग उस खेतमें नहीं डालता। फिर क्या कारण है? कि कोई पुष्प उजला, कोई पीला, कोई नीला तथा एक एकमें नाना प्रकारके चित्र-विचित्र रंग तथा टेढी सीधी रेखायें ऐसी बनती हैं, कि देखकर चित्त मोहित होजाता है। फिर फलोंकी ओर तथा अन्य पदार्थोंकी ओर विचारदृष्टिसे देखाजावे तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें यह विचित्रता क्यों? जो वस्तु एक कारणसे उत्पन्न होगी उसमें कार्य्य भी उसी प्रकारका होगा। यदि केवल परमाणु ही सारी सृष्टिका कारण माना जावे तो सम्पूर्ण रचना जडस्वरूप ही होनी चाहिये थी। फिर इन परमाणुओंका जाननेवाला यहचेतन कहांसे आता। इसलिये यह सिद्धान्त है, कि कोई चेतन इन परमाणुओं पर आज्ञा रखनेवाला अवश्य है जो इन परमाणुओंसे विचित्र प्रकार के कार्योंका सम्पादन करता रहता है।

यह विषय पहले भी बार—बार कहागया है, कि " तदैक्षत एकोऽहं

वहुस्याम "; उसने ईक्षण किया और कहा, कि एक हूं बहुत होजाऊं। इसलिये व्यासदेव कहते हैं, कि "ईक्षतेर्नाशब्दः" उस महेश्वरके ईक्षणसे सृष्टि हुई, प्रकृतिसे नहीं। प्रकृति (परमाणु) इसका महा कारण नहीं होसकती। अर्थात् परमाणुको सृष्टिका नित्य, सनातन और आदिकारण नहीं कहसकते। क्योंकि इन परमाणुओंको लेकर परमात्मा सृष्टिको करता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे पार्थ! सब भूतोंका नित्य और आदि बीज तू मुझहीको जान! शंका मतकरो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्**] बुद्धिमानोंमें बुद्धि भी मैं ही हूं और तेजस्वियोंमें तेज भी मैं ही हूं।

तात्पर्य्य यह है, कि जिस प्राणीके शरीरमें बुद्धिका संस्कार नहीं है उससे संसृति-व्यवहार नहीं चलसकता। निर्बुद्धि एक तो विद्याहीन होता है और विचाररहित होनेसे पशुतुल्य होजाता है। पशुओंको केवल अपने पेट भरने तथा सोजानेसे इतर दूसरे किसी कार्य्यके सम्पादनकी बुद्धि नहीं है। पशु यह नहीं जानसकता, कि यह सृष्टि क्या है ? मैं कौन हूं ? कहांसे आया हूं ? और कहां जाना है ? ये जितनी वस्तु सामने रची हुई दीख पडती हैं इनकी रचना किस प्रयोजनसे हुई है ?।

मुख्यतर अभिप्राय यही है, कि जिस बुद्धिको सम्यग्बुद्धि

कहते हैं वह मूर्खोंके पास नहीं होती। यों तो अपने पराये जाननेकी बुद्धि तो पशुमात्रमें भी है। गैया अपने बच्चेको दूध पिलाती है अन्यको नहीं पिलाती। क्योंकि बुद्धि शब्दका अर्थ है " बुध्यतेऽनयेति " बुध धातुसे क्तिन् प्रत्यय करनेसे बुद्धि शब्द बनता है जिसका अर्थ यह है, कि जिसके द्वारा किसी तत्त्वको जाना जावे उसे बुद्धि कहते हैं। फिर निश्चयात्मिका जो अन्तःकरणकी वृत्ति उसे भी बुद्धि कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्डके २३ वें अध्यायमें लिखा है, कि "बुद्धिर्विवेचनारूपा सा ज्ञानजननीति श्रुतौ " यह बुद्धि विवेचनास्वरूप है अर्थात् सर्व वस्तुओंके विवेककी करनेवाली है तथा ज्ञानकी माता है, ऐसा श्रुतिमें लेख है।

यह बुद्धि गुणोंके भेदसे सात्त्विक, राजस तामस तीन प्रकारकी है और इस बुद्धिके पांच गुण हैं वे यों हैं— " इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता। संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पंचगुणान् विदुः " (महाभा मोक्षप०) अर्थ— १. इष्टानिष्टविपत्ति, २. व्यवसाय, ३. समाधिता, ४. संशय और ५. प्रतिपत्ति।

१. अब इष्टानिष्टविपत्ति किसे कहते हैं सो सुनो! "इष्टानिष्टानां वृत्तिविशेषाणां विपत्तिर्नाशः" अर्थात् जिस समय इष्ट और अनिष्ट इन दोनोंकी विपत्ति होजावे अर्थात् बुद्धि यह विचार करते-करते, कि इस कार्य्यमें इतना अनिष्ट है और इतना इष्ट है इसलिये कहांतक करूं? कहांतक न करूं? ऐसे विचारते-विचारते लय अर्थात् निद्राकीसी दशा होजावे उसे इष्टानिष्टविपत्ति कहते हैं। सो बुद्धिका प्रथम गुण है।

२. व्यवसाय—उत्साहको कहते हैं। जिससमय बुद्धि आनंद पूर्वक एक किसी विचारमें लग जावे। जैसे किसी विद्यार्थीको अपनी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेसे पुरस्कार (पारितोषिक) मिलजाता है तो उसकी बुद्धि आगेकी विद्या उपार्ज्जन करनेमें पूर्ण प्रकार लगजाती है इसीको व्यवसाय कहते हैं।

३. समाधिता- (चित्तस्थैर्य्यम्) चित्तकी स्थिरता अर्थात् वृत्तियोंके निरोध होजानेसे जब बुद्धि इस जगन्मात्रके द्वन्द्वादिकोंको त्याग निश्चयकरके एकठौरमें रुककर स्थिर होजाती है। उसे समाधिता कहते हैं जिसे चित्तवृत्तिनिरोध भी कहते हैं।

४. संशय- (कोटिद्वयस्पृक् ज्ञानम्) जब दो कोटियोंमें बुद्धि लगजाती है, कि यह सत्य है, वा वह सत्य है, उसीको संशय कहते हैं। यह बुद्धिका चौथा गुण है।

५. प्रतिपत्ति- (प्रत्यक्षादिप्रमाणवृत्तिः) अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि कई प्रकारके प्रमाणोंसे मिलकर बुद्धि जब किसी विचारमें पूर्णरूपसे पडकर यथार्थ तत्वको निकाललाती है तब उसे प्रतिपत्ति कहते हैं।

सो भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! एवम् प्रकार जो विविध-भांति बुद्धिका प्रकाश बुद्धिमानोंमें है जिसके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र, तन्त्र तथा पंचभूतोंके द्वारा आश्चर्यमय वस्तुओंकी रचना होती रहती है सो बुद्धि मैं ही हूं।

अब इतना कहनेके पश्चात् भगवान् कहते हैं, कि "तेजस्तेजस्विनामहम्" तेजस्वियोंमें तेज मैं हीं हूं। पहले जो कह आये हैं कि "तेजश्चास्मि विभावसौ" अग्निमें तेज मैं ही हूं सो उस तेज और इस तेजमें बहुत अन्तर है। उस तेजसे केवल प्रकाश मात्रका तात्पर्य्य है और इस तेजसे बल, पुरुषार्थ और श्रेष्ठता, अर्थात् उदारता, मधुरता, धीरता, कान्ति, दीप्ति इत्यादिसे तात्पर्य्य है। अतएव तेजस्वियोंमें जो इतने तत्त्व कहेगये सब मैं ही हूं। यदि मैं न रहूं तो तेजस्वियोंमें तनक भी इन पराक्रमोंका लेशमात्र न रहे। इसलिये सब तेजस्वी मुझहीमें पिरोये हुये हैं ॥ १० ॥

अब भगवन् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इनसे इतर भी
मेरे अन्य वैभवोंको सुन—

मू०— बलम्बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ! ॥ ११

पदच्छेदः— [हे] भरतर्षभ! (भरतकुलभूषण!) बलवताम् (सात्विकबलयुक्तानाम्) कामरागविवर्जितम् (तृष्णारहितम्) बलम् (सामर्थ्यम। ओजः) [तथा] भूतेषु (प्राणिषु) धर्माऽविरुद्धः (धर्मानुकूलः) कामः (जायापुत्रादि विषयाऽभिलाषः। कामदेवः) अहम्, अस्मि ॥ ११ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ!) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन! (बलवताम्) बलवानोंका (कामरागविवर्जितम्) कामनासे

और सर्व प्रकारकी आसक्तिसे वर्जित (बलम्) बल, सामर्थ्य, ओज तथा (भूतेषु) सब प्राणियोंमें (धर्माऽविरुद्धः) धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल पुत्र पौत्रादिकी अभिलाषासे उचित कामदेव (अहमस्मि) मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

भावार्थः— अब भगवान कहते हैं, कि हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! [बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्] कामरागसे विवर्जित जो बलवानोंमें बल एवं वीर्य्य है सो मैं ही हूं।

यहां कामरागविवर्जित कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि कामरागसे परिष्कृत और त्याज्य जो वीरोंमें शुद्ध बल है सो मैं ही हूं ।

शंका— यदि कामरागसे विवर्जित बलको भगवानने अपना विशेष रूप कहा तो कामरागसहित बल जो रावण, कंस, हिरण्य-कश्यप, हिरण्याक्ष इत्यादिके हैं वे क्या किसी दूसरेके बल हैं ?

समाधान— सामान्यरूपसे तो जितने प्रकारके बल हैं सब भगवान्हीके रूप हैं और इनसे इतर भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि भी सब भगवानहीके रूप हैं । पर इनसे उत्तम प्रकारसे काम लेना धर्म्म है और निकृष्ट प्रकारसे काम लेना अधर्म्म है । अर्थात् बलवान्को अपने बलसे निर्बलोंकी रक्षा करनी, धनवान्को अपने धनसे दरिद्रोंका पालन करना, गृहस्थोंको कामसे अपनी धर्म्मप-त्नीमें पुत्रका उत्पन्न करना, बुद्धिमानोंको अपने क्रोधसे अपने भृत्योंको, बच्चोंको और अन्यायियोंको अशुद्ध कर्म्मोंसेबचाना इत्यादि। उत्तम प्रकारसे कामलेना है और धर्म्म है । पर इनके प्रतिकूल अपने

वलसे और धनसे निर्वलोंको दुःखदेना तथा परस्त्रीमें गमन करना, क्रोधसे परायेको मारडालना, उनके घरोंमें आग लगाना इत्यादि इन तत्वोंको निकृष्ट प्रकारसे काममें लाना है और अधर्म्म है। इसलिये इन राक्षसोंके बलकी गणना अधर्ममें कीजायगी शंका मतकरो।

यद्यपि भगवान् धर्म्म और अधर्म्म दोनोंके करते समय साक्षी रहते हैं पर धर्म्म करनेवालोंको स्वर्गादिका सुख और अधर्म्म करने वालोंको नरकादिका दुःख प्रदान किया करते हैं। इसलिये यहां विशेष रूप और सामान्य रूपका प्रयोग कियागया है और इसी दोषको बचानेके लिये भगवानको भी (कामरागविवर्जित) वाक्यका प्रयोग करना पडा है। " विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय " अर्थात खलोंकी विद्या विवादके लिये, धन, मदके लिये और शक्ति परायेके दुःख देनेके लिये हैं पर इसीके प्रतिकूल साधुओंकी विद्या, धन और शक्ति ज्ञानके लिये, दानकेलिये और परायेकी रक्षा करनेके लिये हैं।

अब वलकी व्यापकता दिखलायी जाती है जिससे यह बोध होजावेगा, कि किसके लिये क्या वल है। क्योंकि जिसके लिये जो शुद्ध वल है सो तो भगवान् स्वयम् ही हैं।

" क्षत्रियाणां वलं युद्धं व्यापारश्च वलं विशाम्।
भिक्षावलं भिक्षुकाणां शूद्राणां विप्रसेवनम् ॥

हरेर्भक्तिर्हरेर्दास्यं वैष्णवानां बलं हरिः ।
हिंसाबलं खलानां च तपस्या च तपस्विनाम् ॥
बलं वेशश्च वेश्यानां योषितां यौवनं बलम् ।
सतां सत्यं बलं ज्ञेयं मिथ्या चैवाऽसतां सदा ॥
विद्याबलं पण्डितानां वाणिज्यं वणिजो बलं ।
शश्वत् सुकर्म शीलानां गाम्भीर्य्यं साहसं बलम् ॥
धनं बलं च धनिनां शुचीनां च विशेषतः ।
बलं विवेकः शान्तानां गुणिनां बलमेकता ॥
गुणो बलञ्च गुणिनां चौराणां चौर्य्यमेव च ।
विप्रवाक्यं च कापट्यमधर्म्मभृणिनां बलम् ॥
हिंसा च हिंस्रजन्तूनां सतीनां पतिसेवनम् ।
वरशापौ सुराणां च शिष्याणां गुरुसेवनम् ॥
बलं धर्म्मो गृहस्थानां ब्रह्म च ब्रह्मचारिणाम् ।
यतीनां च सदाचारो न्यासः सन्न्यासिनां बलम् ॥
पापं बलं पातकिनां सुभक्तानां हरिर्बलम् ।
पुण्यं बलं पुण्यवताम् प्रजानां नृपतिर्बलम् ॥
जलं बलंच शस्यानां मत्स्यानां च जलं बलम् ।
शान्तिर्बलं च भूपानां विप्राणां च विशेषतः" ॥

(ब्रह्मवैव० अध्या० ३५)

इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है । इन श्लोकोंमें जितने बल हैं सबोंमें भगवान् सामान्यरूपसे तो व्यापक हैं ही पर इनमें जो काम-रागसे विवर्जित बल है सो भगवान् कहते हैं, कि विशेषरूपसे मैं ही हूं

जहां मैं नहीं वहां बल ही नहीं। व्याघ्रमें, हस्तीमें, तिमिंगल मछलीमें, वायुमें, जलमें जो आश्चर्य्यजनक बल है सो सब मेरे समष्टिरूप बलमें पिरोये हुए हैं तथा बलवान् पुरुषोंमें जो कामरागरहित सात्विक बल व्यष्टिरूप है सो भी विशेषकर मैं ही हूं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**धर्म्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!**] हे अर्जुन! सब जीवोंमें धर्म्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्म्मानुकूल जो काम सो मैं ही हूं। पर इसके प्रतिकूल धर्म्मसे विरुद्ध जो परस्त्रीमें कामका सुख सो मैं नहीं हूं।

शंका— पहले तो भगवान् अर्जुनके प्रति कह आये हैं, कि "जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्" अर्थात् हे महापराक्रमी अर्जुन! तू कामरूप शत्रुको जो अत्यन्त दुर्निवार्य है त्याग कर! और अब कहते हैं, कि 'काम' मैं ही हूं तो ऐसा कब होसकता है? कि उनको त्याग दियाजावे।

समाधान— काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ये पांचों, प्राणियोंके साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि पांच भूतोंसे इन पांचोंकी उत्पत्ति है। जैसे पृथ्वीसे मोह, जलसे काम, अग्निसे क्रोध, वायुसे लोभ और आकाशसे अहंकारकी उत्पत्ति है। सो ये पांचों तत्त्व शरीरके साथ-साथ हैं। ये शरीरसे विलग नहीं होसकते। क्योंकि ये पांचों तत्त्व तो शरीरके ही कारण हैं। इसलिये इनके विलग करनेसे तो संसारमें प्राणियोंकी स्थिति ही नहीं होसकती। फिर जब ये साथ हैं तो इनसे उत्पन्न काम, क्रोधादि पांचों विकार भी शरीरसे विलग नहीं

जासकते। इनका निवास तो शरीरमें ऐसे है जैसे नीलमें नीलता, जलमें शीतलता, अग्निमें अरुणता, तैलमें स्निग्धता। इसी कारण शरीरसे इनका छूटना नहीं होसकता। यदि ये एकबारगी शरीरसे छूटजाते तो ब्रह्मादि देवोंको कदापि क्रोध और कामका धब्बा नहीं लगता सो शास्त्र पुराणोंके देखनेसे ऐसा बोध होता है, कि पूर्वके भी बडे-बडे साधु महात्मा इन पांचोंको एक बारगी अपनेसे बिलग न करसके। इनके फन्दे पडकर बार-बार लज्जित हुए। इस कारण शरीरसे इनका छूटना दुस्तर देखपडता है। पर इनके दो भाग हैं— सात्विक और राजस इनमें जितना सात्विक अंश है वह ग्रहण करने योग्य है। दैवी सम्पदा वालोंका स्वभाव है, कि वे इनके केवल सात्विक-अंशको ग्रहण करते हैं। और जो आसुरी सम्पदावाले हैं वे इनके राजस-भागको ग्रहण करते हैं। जैसे कामका सात्विक भाग अर्थात् जिससे सृष्टिकी वृद्धि होवे केवल अपनी धर्मपत्नीको सन्तुष्ट करतेहुए काम-सुखसे कोई तात्पर्य न रखकर धर्मानुकूल सन्तानको उत्पन्न करना शुद्ध और निर्मल तथा सात्विक-भाववालोंका काम है। इसलिये ऐसे कामका स्वरूप भगवान् कहते हैं कि मैं ही हूं। यहां शंका मत करो।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वायु यद्यपि स्वयं गन्ध रहित है तथापि व्यवहारमें नासिका इन्द्रियकी अपेक्षा सुगन्धित वस्तुओंसे मिलकर सुगन्धित और दुर्गन्धित वस्तुओंसे मिलकर दुर्गन्धित होजाती है पर वह स्वयम् दुर्गन्ध वा सुगन्धका रूप नहीं है। इसकी हानि वा लाभ नासिकेन्द्रियसे होता है। इसी प्रकार भगवान्का रूप धर्म वा अधर्मसे मिश्रित नहीं है। स्वच्छ और निर्मल है। पर प्राणियों

की अपेक्षा धर्मानुकूल सुखदायी है और धर्मके प्रतिकूल दुखदायी है। जहां जहां भगवान्‌ने अपना विभव दिखलाया है तहां-तहां इसी प्रकार जानना ॥ ११ ॥

अब भगवान् सर्व प्रकारके सात्विक, राजस और तामस तत्त्वोंको अपनेसे उत्पन्न बताते हुए कहते हैं—

मू०— ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

पदच्छेदः—ये, च, एव, सात्विकाः (सत्वोद्भूताः) भावाः (स्वकर्मवशाज्जायमानाः पदार्थाः धर्मज्ञानवैराग्यादयः चित्तपरिणामाः शमदमादयो वा) [तथा] ये, च, राजसाः (रजउद्भूताः पदार्थाः लोभहर्षदर्पादयः) तामसाः (तमस उद्भूताः निद्रालस्यादयस्तथा शोक-मोहादयः) [भावाः] तान् (सर्वान्) मत्तः (मत्महेश्वरादुत्पन्नाः) एव (निश्चयेन) इति (अनेन प्रकारेण) विद्धि (जानीहि) तेषु (तदधीनेषु) अहम् (वासुदेवः) न (नैव) अस्मि [किन्तु] ते (त्रिगुणात्मकाः पदार्थाः) तु, मयि (मदधीनतायाम् । सत्ता-स्फूर्तिकत्वे) [वर्तन्ते] ॥ १२ ॥

पदार्थः—(ये, च, एव) जो कुछ भी निश्चय करके (सात्विकाः) सत्वगुणसे उत्पन्न (भावाः) पदार्थ धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि हैं तथा (ये, च,) जो कुछ भी (राजसाः) रजोगुणसे उत्पन्न लोभ, हर्ष, दर्पादि हैं तथा जो कुछ भी (तामसाः) तमोगुणसे

उत्पन्न निद्रा, आलस्य, शोक, मोहादि हैं (तान्) तिन सबोंको (मत्त, एव) मुझसे निश्चय करके उत्पन्न हैं (इति) ऐसा (विद्धि) जान! किन्तु (तेषु) तिनके अधीन (अहम्, न) मैं नहीं हूं पर (ते, तु) वे तो (मयि) मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ:— अब भगवान अपनी विशेष शक्तियोंको कहते-कहते विचार करने लगे, कि यदि मैं अपने सब गुणोंको विलग-विलग कहना आरंभ करूं तो इतने थोडे समयमें जब, कि युद्ध उपस्थित है मेरे सब गुणोंका वर्णन नहीं होसकता। जिन मेरे गुणोंको वेद कहते—कहते नेति·नेति कहने लग पडा, जिन मेरे गुणोंके कहनेमें शेष, महेश, गणेश, शारदा इत्यादि मूक हैं। तिन गुणोंका कथन इस समय रथपर कैसे होसकता है। यदि मैं उनके कहनेमें समर्थ भी हूं क्षणमात्रमें कहसकता हूं पर अर्जुनको इतनी धारणा·शक्ति नहीं है, कि इन मेरे अनन्तगुणोंको इतने अल्प समयमें धारण करसके और स्मरण रखसके। पर मैं इससे प्रतिज्ञा करचुका हूं, कि "असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु" (श्लो० १) अर्थात् निस्सन्देह जिस प्रकार तू मेरे समग्र स्वरूपको जान जावेगा सो सुन! तथा यह भी मैं कहचुका हूं, कि "यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" (श्लो० २)

अर्थ— मैं तुझसे उन सब विषयोंको कहूंगा जिनके जाननेसे फिर किसी प्रकारकी कोई बात जाननेको शेष नहीं रहजावेगी। इसलिये भगवान् विचार करहे हैं, कि ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे

यह सब कुछ जान जावे और जाननेमें समय भी थोडा लगे। ऐसे विचार भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये] इस निःसार संसारमें सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे और तमोगुणसे जितने पदार्थोंकी उत्पत्ति है अर्थात् जितने भी स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं इनही तीनों गुणोंसे उत्पन्न हैं।

(भावाः) शब्दका अर्थ "भवतीति भावः" है अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ उसे भाव कहते हैं। ये स्थूल वा सूक्ष्मके भेदसे अनगिनत हैं। जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत नद, सूर्य्य, चन्द्रादि ये सबके सब भाव (पदार्थ) हैं स्थूल हैं और साकार हैं जिनको नेत्रोंसे देख सकते हैं।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, हर्ष, शोक, काम, क्रोधादि सूक्ष्म और निराकार हैं जिनको नेत्रोसे नहीं देखसकते ये ही दो प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म भाव कहे जाते हैं और त्रिगुणात्मक कहेजाते हैं। क्योंकि " ब्रह्माश्रया या माया सा त्रिधा " ब्रह्मके आश्रय जो माया है सो तीन प्रकारकी है अर्थात् सत्व, रज, तमोगुणात्मिका है। इसी दुर्जया मायाने भगवत्की आज्ञा पाकर सृष्टिकी रचना की है।

इस तत्वको तत्वबोध ग्रन्थमें यों लिखा है, कि "ब्रह्माश्रया-सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति" माया उस ब्रह्मके आश्रय त्रिगुणमयी एवं त्रिगुणात्मिका है। "तत आकाशः संभूतः" तिससे आकाश उत्पन्न हुआ। "आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजस आपः

अद्भ्यः पृथिवी " आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई।

अब इन पंचभूतोंमें कौन—कौनसी वस्तु इन तीनों गुणोंद्वारा बनती हैं सो दिखलायी जाती हैं। सबसे पहले इनमें प्रथम पंचभूतोंके सात्त्विकगुणकी रचना कहते हैं—

" एतेषां पंचतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य सात्त्विकांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं संभूतम्। वायोः सात्विकांशात् त्वगिन्द्रियं सम्भूतम्। अग्नेः सात्विकांशाच्चक्षुरिन्द्रियं संभूतम्। जलस्य सात्विकांशाद्रसनेन्द्रियं संभूतम्। पृथिव्याः सात्विकांशाद्घ्राणेन्द्रियं संभूतम्। एतेषां पंचतत्त्वानां समष्टिसात्त्विकांशान्मनोबुद्ध्यहंकारचित्तान्तःकरणानि संभूतानि।" (तत्वबोध सू० ३०)

अर्थ—(१) इन पांचों तत्वोंमेंसे आकाशके सात्विकांशसे (श्रोत्रेन्द्रिय) कानकी उत्पत्ति हुई।

(२) वायुके सात्विकांशसे त्वचा उत्पन्न हुई।

(३) अग्निके सात्विक अंशसे (चक्षुरिन्द्रिय) नेत्र उत्पन्न हुआ।

(४) जलके सात्विक अंशसे (रसनेन्द्रिय) जिह्वाकी उत्पत्ति हुई।

(५) पृथिवीके सात्विक अंशसे (घ्राणेन्द्रिय) नासिका उत्पन्नहुई।

पूर्वोक्त इन पांचों तत्त्वोंके एकत्र होनेसे जो तत्त्वोंकी समष्टि होगयी तिसके सात्विकांशसे मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त ये चारों अन्तःकरण उत्पन्न हुए।

अब इन्हीं तत्त्वोंके राजस अंशकी मीमांसा कीजाती है—

" एतेषां पंचतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य राजसांशाद्वागिन्द्रियं संभूतम्। वायो राजसांशाद्घ्राणेन्द्रियं संभूतम्। वह्ने राजसांशात्पादेन्द्रियं संभूतम। जलस्य राजसांशादुपस्थेन्द्रियं संभूतम्। पृथिव्या राजसांशाद्गुदेन्द्रियं सम्भूतम्। एतेषां समष्टिराजसांशात्पंचप्राणाः संभूताः।" (तत्वबोध सूत्र ३२)

अर्थ— इन पांचों तत्त्वोंमेंसे आकाशके राजस अंशसे वागिन्द्रिय (जिह्वा) वायुके राजस अंशसे घ्राणेन्द्रिय (नासिका) और वह्नी (अग्नि) के राजस अंशसे पादेन्द्रिय (दोनो पांव) जलके राजस अंशसे उपस्थेन्द्रिय (लिंग) उत्पन्न हुए। पृथिवीके राजस अंशसे गुदा उत्पन्न हुई। फिर इन पांचों तत्वोंके समष्टि—राजस अंशसे पांचों प्राण उत्पन्न हुए।

"एतेषां पंचतत्वानां तामसांशात् पंचीकृतानि पंचभूतानि भवन्ति"। (तत्व० सूत्र ३३)

फिर इनही पांचों तत्वोंके तामस अंशसे (पंचीकृत) पांच भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

एवम्प्रकार सबोंको एक संग मिलानेसे सब २४ तत्व उत्पन्न हुए—

५ ज्ञानेन्द्रिय, ४ अन्तःकरण, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण और ५ पंचभूत ५+४+५+५+५=२४

पंचीकरण क्या है ? सो श्लो० ८ में दिखायाजाचुका है ।

" एतेभ्यः पंचीकृतपंचमहाभूतेभ्यः स्थूलशरीरं भवति " (तत्व० सूत्र ३४)

" स्थूलशरीराभिमानीजीवनामकब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति । स एव जीवः प्रकृत्याः स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति । अविद्योपाधिःसन्नात्मा जीव इत्युच्यते " (तत्व० सूत्र ३५)

अर्थ— इन ही पंचभूतोंके पंचीकरणसे स्थूल देह उत्पन्न होती है इसी स्थूल—शरीरका अभिमानी (अपना समझनेवाला) जीव तामसकरके ब्रह्मका स्वयं प्रतिबिम्ब है सो यह अपने स्वभावके अनुसार अपनेको ईश्वरसे भिन्न जानता है। केवल अविद्याकी उपाधिसे यह आत्मा जीव कहाजाता है पर स्थूल शरीरका अभिमान छूट जानेपर फिर यह जीव नहीं कहाजाता वरु निर्मल शुद्ध चेतन आत्मा ही रहजाता है ।

इतना कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त त्रिगुणात्मक है । जितने पदार्थ इन पंचभूतोंसे उत्पन्न हैं सबमें तीनों गुणोंमेंसे किसी एक गुणकी प्रधानता रहती है । जैसे विष्णुमें सत्वगुणकी प्रधानता, ब्रह्मामें रजोगुणकी और शिवमें तमोगुणकी प्रधानता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक पदार्थ जड हों वा चैतन्य, तीनों गुणोंसे मिलकर बने हैं तथापि एक-एकमें

एक २ गुणकी प्रधानता है फिर जिसमें जिस गुणकी प्रधानता है वह वैसा ही गुणवाला कहाजाता है। जैसे गैया सत्वगुणी कही जाती है और व्याघ्र रजोगुणी कहाजाता है तथा सर्प (अजगर) तमोगुणी कहा जाता है। इसी प्रकार अण्डज, ऊष्मज, पिण्डज और स्थावर इन चारों खानिके जीवोंमें त्रिगुणात्मक जीव हैं। देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि सब प्राणियोंमें इनही तीन गुण वाले मिलेंगे। जिनमें एक गुणकी प्रधानता रहेगी शेष दोनों गुण गौणरूपसे रहेंगे। इसी प्रकार जड-पदार्थोंमें जैसे नद, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ण, चांदी, हीरा, लाल, पन्ना, पिरोजा इत्यादि तथा नाना प्रकारके काष्ठ, लोहे इत्यादि सबोंमें त्रिगुणात्मक रचना है। थोडा विचार करनेसे समझमें आजाता है, कि कौन पदार्थ किस गुणवाला है?।

ये तो स्थूल रचनाके अंग दिखलायेगये पर अब सूक्ष्म रचनायें भी त्रिगुणात्मक ही हैं सो दिखलायी जाती हैं। अर्थात् सूक्ष्म पदार्थोंमें भी इनही गुणोंका संयोग है। जैसे धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम इत्यादि सात्विक-चित्तके परिणाम हैं। अर्थात् जिस प्राणीकी प्रकृतिमें सात्विक अंश अधिक है उसमें ये शुभ-अंग अवश्य होंगे। इसी प्रकार जिस प्राणीकी प्रकृतिमें रजोगुण प्रधान है उसमें लोभ, हर्ष, दर्प, श्रम, क्रोध इत्यादिकी विशेषता अवश्यहोगी। फिर जो प्राणी तामसी प्रकृतिवाला है उसमें निद्रा, आलस्य तथा शोक, मोह इत्यादि तामसी गुणोंका अभिनिवेश अवश्य होगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवत्की जो 'परा अपरा' प्रकृति

और हैं वे दोनों प्रकृतियां त्रिगुणात्मक हैं । इसलिये सारा ब्रह्माण्ड ही त्रिगुणात्मक सिद्ध हुआ ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जितने स्थूल, सूक्ष्म, जड, चेतन, पदार्थ हैं तीनों गुणवाले हैं [मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि] हेपार्थ ! इन सबोंको मुझसे उत्पन्न जान । ये सब मुझहीसे उत्पन्न होते हैं और फिर मुझहीमें लय होजाते हैं पर मैं उनके अधीन नहीं हूं वे मेरे अधीन हैं ।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (द्वि० मुण्डक २ खण्ड १ श्रुतिः १)

अर्थ— यह सत्य है, कि जैसे जलती हुई आगसे सहस्रों चिनगारियोंके रूप उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार हे सोम्य! (शिष्य !) उस अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मसे भांति २ के (भावाः) पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लय होजाते हैं ।

इस श्रुतिसे भी सिद्ध होता है, कि भगवान् स्वयम् इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंका अर्थात् संपूर्ण सृष्टिका कारण है । इसी निमित्त आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अपने मुखसरोजके वचन रूप मधुर अमृत रसको टपकाते हुए कहते हैं, कि हे पार्थ ! ये सब त्रिगुणात्मक पदार्थ जो ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त फैले हुए हैं मुझमें पिरोये हुए जान ! पर इसके साथ तू यह भी जानले, कि " नत्वहं तेषु ते मयि " मैं उनके अधीन नहीं हूँ किन्तु वे सब मेरे अधीन हैं ।

अर्थात् ब्रह्मादि देव भी मेरे अधीन हैं मैं उनके अधीन नहीं । अथवा सीधे यों अर्थ करलो, कि मैं समग्र उनमें नहीं । परवेसमग्र मुझमें हैं अर्थात् मैं व्यापक हूँ और ये व्याप्य हैं, मैं भोक्ता हूं और ये भोज्य हैं अर्थात इन सबोंका मैं भोगने वाला हूँ । जैसे राजा अपने राज्यका भोगने वाला होता है और राज्य भोज्य अर्थात् (भोगनेका पदार्थ) कहलाता है ऐसेही मैं हूं । जिस समय मैं जिनपर जो आज्ञा करूं वे मेरी आज्ञाके प्रतिपालनमें क्षणमात्रका भी विलम्ब न करेंगे । क्योंकि वे मेरे अधीन हैं पर मैं उनके अधीन नहीं हूं ।

लीलापुरुषोत्तम भगवानके इस वचनको श्रुति भी प्रति पादन करती है। श्रुतिः— "भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पंचम इति " (तैत्ति० ब्रह्मानन्द-वल्ली अनुवाक ८)

अर्थ— इस पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्री कृष्ण-चन्द्रके भयसे हवा वहती है, सूर्य उदय होता है । इसीके भयसे आग तपती है, चन्द्रमा शीतल किरणोंसे संसारको सुखी करता है और इसीके भयसे पांचवीं जो मृत्यु सो जीवोंके प्रति धावती है ।

फिर अभी जो कहागया, कि वही आनन्दकन्द भोक्ता है और उसकी सारी प्रकृति भोज्य है इसको भी श्रुतियां निरूपण करेती हैं—

श्रु०— तस्माद्भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिस्तस्थो भुंक्ते इति प्रकृतिमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदादयं विशेषान्तं लिंगम् "

(मैत्र्युपनिषद् प्रपा० ६ श्रुति १० के अन्तर्गत देखो)

अर्थ— यह कारण-पुरुष तो भोक्ता है और प्रकृति भोज्य है अर्थात् भोगनेके योग्य है । सो यह पुरुष तिस प्रकृतिमें व्यापक और उसे अपने अधीन रखकर भोगता है । अर्थात् उससे अपनी आज्ञाका प्रतिपालन कराता है । सो प्रकृति अन्नरूप सत्व, रज, तम तीन प्रकार से परिणाम पाकर तिस पुरुषकी आज्ञासे सृष्टिके कार्योंका सम्पादन करता है । जिस प्रकृतिकी आदिमें महत्तत्व है जो ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियोंसे संमूर्छित होकर अर्थात् इन दोनों शक्तियोंके द्वारा पूर्ण होकर इस प्रकृतिमें आदिसे ही प्रवेश कियेहुए है इस कारण इस प्रकृतिको महदादिके नामसे पुकारते हैं । फिर कैसी है ? कि (विशेषान्तः है) पृथिवी इत्यादि महाभूतके लक्षणोंसे युक्त होना ही जिसका अन्त है इसलिये +विशेषान्त कहीजाती है ।

प्रमाण— तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंचपंचभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥

(सांख्यकारिका)

फिर वह महत्तत्व कैसा है ? कि (×लिंगम) जिसके द्वारा चेतनका सद्भाव जानाजाता है अर्थात् इस प्रकृतिके भोज्य होनेसे भोक्ताकी ढूंढ होती है ।

+ विशेषान्तः— विकारशब्दवाच्या पृथिव्यादिमहाभूतलक्षणा ।

× लिंगम्— लिंग्यते ज्ञायते चेतनसद्भावोऽनेनेति ।

मुख्य तात्पर्य श्रुतिके कहनेका यह है, कि प्रकृति द्वारा धीरे-धीरे चेतनकी ओर दृष्टि जाती है और ऐसा बोध होता है, कि इस नियमके चलानेवाला कोई एक महापुरुष है।

इसी तात्पर्यको भगवानने अर्जुनसे कहदिया, कि "नत्वहं तेषु ते मयि" मैं उनके अधीन नहीं वे मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन! ये जो त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे उत्पन्न संसार है सो आपके अधीन है फिर उसके निवास करनेवाले आपको क्यों नहीं जानते। आपके स्वरूपसे विमुख क्यों रहते हैं? सो कृपा कर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
॥ १३ ॥

पदच्छेदः— एभिः (पूर्वोक्तैः) त्रिभिः (त्रिविधैः) गुणमयैः (सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैः रागद्वेषमोहादि प्रकारैः) भावैः (पदार्थैः) इदम्, सर्वं, जगत् (चराचरं प्राणिजातम्) मोहितम् (विवेकाच्छादकं मोहं प्रापितम्) [सत] एभ्यः (यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः) परं (असंस्पृष्टम् । अत्यन्तविलक्षणम् । व्यतिरिक्तम्) अव्ययम् (व्ययरहितम् । जन्मादि सर्वभावविकारवर्जितम्) माम् (वासुदेवम्) न, अभिजानाति (नवेत्ति) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (एभिः) पूर्वमें कथन कियेहुए (त्रिभिः) तीनों प्रकारके (गुणमयैः) सत्व, रज और तमोगुणके विकार भरे-हुए (भावैः) पदार्थोंसे (इदम्) यह (सर्वं, जगत्) सम्पूर्ण जगत् (मोहितम्) मोहमें पडाहुआ है अर्थात् ज्ञानसे रहित होकर मोहित होगया है इसलिये (एभ्यः) इनसे परे (अव्ययम्) सर्व प्रकारके जन्मादि विकारोंसे रहित (माम्) मुझ परमेश्वरको (नाभि-जानाति) नहीं जानता है ॥ १३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह प्रश्न किया, कि हे भगवन् ! आप ऐसे शुद्ध, निर्मल, निर्विकारके साथ यह जगत् तद्रूप ही है तो क्या कारण है ? कि इसका संसारित्व अर्थात् संसृति-दुःख नहीं मिटता और इसमें रहनेवाले प्राणी आपको नहीं जानते ? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [त्रिभिर्गुण-मयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितम्] पहले जो मैं तुमसे त्रिगुणात्मक पदार्थोंका वर्णन कर आया हूं कि मेरी माया तीन गुण वाली है उनहीं मायामय त्रिगुणात्मक पदार्थोंसे यह सारा जगत् मोहित होरहा है अर्थात मेरी दुर्जया मायाने इन पदार्थोंमें ऐसा आकर्षण रखदिया है और ऐसे चिकने चुलबुले सुहावने बनाये हैं, जिनके देखनेसे यह संपूर्ण जगत् मोहित होरहा है अर्थात् विवेकका स्वरूप जिनसे आच्छादित होरहा है बडे-बडे विवेकी, ऋषि, महर्षि, देव और गन्धर्व सब जिसकी शोभा देख मोहित हो अपने यथार्थ स्वरूपको भूल रहे हैं जैसे मद्यपी मद्य पीकर अपनी मर्य्यादा इत्यादिको भूल पागलके सदृश विचित्र चेष्टा करने लगजाता है, उसे

किसी प्रकारकी लज्जा नहीं रहती । मग्न होकर लोगोंके बीच नाचने, कूदने और गाने लगजाता है तथा किसी खड्डेमें गिरकर अचेत होजाता है । इसी प्रकार इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंको देख यह सारा जगत् मोहित हो पागल होरहा है । जिसको देखो वही अपने २ संसृति-ध्यानमें मग्न मुँह बनाये इधर उधर चलरहा हैं। देखो! मेरी मायाने यह जो एक स्त्री वनायी है जिसका लावण्य ऐसा मोहमें डालने वाला दुःख-दायी है, कि जो कोई इसके फन्दे पडता है पागल होजाता है । दिन रात सब अपनी मर्य्यादा, सज्जनता, मान, बडाई इत्यादि त्याग निर्लज्ज होजाता है । जैसे नदीके तटपर जो लतायें लगी रहती हैं उनको नदीकी धारा खैंच लेजाती है ऐसे प्राणीके चित्तको ये मेरे त्रिगुणात्मक पदार्थ खैंचलेते हैं । यदि शंका हो, कि इन प्राणियोंको पागल क्यों कहते हो और मोहित क्यों कहते हो? तो पागल कहनेका कारण यह है, कि प्राणी इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंका परिणाम सुखदायी समझकर उनकी ओर दौडता है पर सुख नहीं पाता । जैसे मृगतृष्णाको देख मृग और दीपकको देख पतंग दौडते है । इसी प्रकार वडे–बडे विद्वान् भी इन त्रिगुणात्मक विषयोंकी ओर दौडते हैं । पर जब इनके समीप पहुँचते हैं इनसें लिपट अन्तमें वे अत्यन्त दुःख पाते हैं । जैसे किसी अत्यन्त गहरी खाईका मुंह हरे-हरे तृण और पान फूलोंसे ढका रहता है पर जब मृगा उसके खानेको उसपर कूदपडता है तो वह उस खड्डेमें गिरकर अत्यन्त दुःख पाता है । इसी प्रकार यद्यपि ये सम्पदारूप पदार्थ सब क्लेशदायक हैं इनमें रंचक मात्र भी सुख नहीं है तथापि इसी प्रकार प्राणी स्त्रीके सुन्दर कुचरूपी सुहावनी वेली और

नेत्र नासिका रूप फूल पानको देख दौडपडता है पर इनके समीप होनेसे सदाकेलिये दुःख पाता है तथापि इन्हें छोडता नहीं इसीको मोहित होना कहते हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि ये सब जीव एवम्प्रकार मोहित होकर [**नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्**] मुझको इन पदार्थोंसे परे तथा जन्मादि विकारोंसे रहित नहीं जानते हैं अर्थात्‌ अज्ञानताके कारण मोहित होरहे हैं ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्‌! ये जो आपकी माया है सो दुर्जया क्यों? इसके तरनेका और कोई विशेष उपाय है वा नहीं? सो कृपाकर कहो! इतना सुन भगवान बोले—

मू०— दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

पदच्छेदः— मम (मायाविनः। परमेश्वरस्य) एषा (यथोक्ता) गुणमयी (सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयविकारात्मिका) दैवी (माहेश्वरी। अलौकिकी। अत्यद्भुता) माया (प्रकृतिः) हि (निश्चयेन) दुरत्यया (दुःखेनाऽतिक्रमणं यस्याः) ये माम्‌ (सर्वभूतस्थम्‌। भगवन्तम्‌। वासुदेवम्‌) प्रपद्यन्ते (सर्वात्मना प्रपन्ना भवन्ति। विषयीकुर्वन्ति वा) ते (ममोपासकाः) एव (निश्चयेन) एताम्‌ (सर्वभूतचित्तमोहिनीम्‌) मायाम्‌, तरन्ति (अतिक्रामन्ति) ॥ १४ ॥

अर्थात् प्रकृतिको माया जानो! और माया फैलानेवालेको महेश्वर अर्थात् पुरुष जानो ! यह माया मेरी क्यों है ? सो कहते हैं ।

प्रथम तो यह जानना चाहिये, कि माया किसे कहते हैं ? मायाका क्या स्वरूप है ? तब इसके पश्चात दैवी शब्द उसी मायाके साथ लगा कर दिखलाया जावेगा । इसलिये पहले माया शब्दका अर्थ करते हैं —"**माश्च मोहार्थवचनो याश्च प्रापणवाचकः।**

तं प्रापयति या नित्यं सा माया परिकीर्तिता ॥"

(ब्रह्मवैवर्त्त० श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय २७)

अर्थ—(मा) मोहार्थ वचन और (या) प्राप्तिके अर्थमें आता है इसलिये मोह प्राप्त करदेनेवाली शक्तिको ही माया कहते हैं । फिर

"**विचित्रकार्य्यकरणा अचिन्तितफलप्रदा ।**

स्वप्नेंद्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्त्तिता ॥"

(देवीपुराण अध्याय ४५)

अर्थ—जो अद्भुत अलौकिक कार्य करनेवाली और उसके फलको देनेवाली हो जो बडे बडे बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें न समावे तथा अनेक विद्यादिका भी बल लगानेसे जिसका गूढभेद समझमें न आवे उसे माया कहते हैं ।

इस मायाके स्वरूपके विषय श्रुति यों कहती हैः—

श्रु०— "**माया च तमोरूपानुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैरात्मेव**

दृष्टास्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्व-
तन्त्रत्वेन सैषा वटबीज़सामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव तद्यथा वटबी-
जसामान्यमेकमनेकान्स्वाव्यतिरिक्तान्वटान्सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र
पूर्णसत्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि
दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव
भवति सैषा चित्रा सुदृढा बह्वंकुरा स्वयं गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्म-
विष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता ···· "।

अर्थ— यह माया तमका स्वरूप है (अनुभूतेः) अनुभव
करनेसे ऐसा ही बोध होता है। क्योंकि जहां तम होता है तहां आगे
पीछे, दायें, बायें कुछ सूझता नहीं देखो ! षोडशीका मुख मायारूप ही
है· जब उसकी ओर दृष्टि जाती है अज्ञानता फैलजाती है चारों
ओर अन्धकार व्यापकर बुद्धिको घेर लेता है, कुलकी मर्यादा,
बडाई, महत्व और लज्जा सबको धूलमें मिलादेता है। इसी
प्रकारके उदाहरणोंके द्वारा अनुभवमें आता है, कि माया
तमोरूप है इसी तात्पर्यसे श्रुतिने " अनुभूतेः " कहा । अब
यहां श्रुतिने जड, मोहात्मक, अनन्त और तुच्छ ये चारे विशेषण
मायाके कहे तहां जड क्यों है ? सो कहते हैं—विराट्में पंचभूतका जहां
तक विस्तार है उनमें जितनी वस्तु देखीजाती हैं प्रत्यक्ष होती हैं सब
जड हैं क्योंकि चैतन्यको तो कोई देखता नहीं इसलिये देखनेमात्रसे
जो मोहित करै वह जड अवश्य ही होगा। हां इतना तो अवश्य है,
कि ये सब जडपदार्थ आत्मा जो चैतन्यः तिस करके प्रकाशित हैं इस-
लिये श्रुति इस जड मायाको अन्तमें 'चैतन्यदीप्ता' कहेगी । अब यह

जड माया 'मोहात्मक' कहीगयी। मोह उसीको कहते हैं जहां बुद्धिमानोंकी बुद्धि कुंठित होजावे सो उदाहरणसे दिखलाते हैं, कि यह माया जड होकरे मोहात्मक कैसे है ? तो देखो! हीरा, लाल, मोती, पुखराज, पन्ना, नीलम इत्यादि रत्न तथा स्वर्ण, चांदी इत्यादि धातु हैं पर यदि ये जडपदार्थ किसी स्थानमें पडे हों अथवा नाना प्रकारके आभूषणोंमें जडे हो तो अवश्य प्राणीके चित्तको मोहित कर अपनी ओर खींच लेवेंगे । इन्हींको देखकर मनुष्य चोरी, डाका इत्यादि कुकर्म करनेको तयार होजाते हैं । यदि ये जड-पदार्थ मोहात्मक न होते तो बुद्धिको ऐसी मोहित क्यों करते । इसी प्रकार बाग, बगीचे, कोठे, महल, अटारी जड पदार्थोंको भी मोहात्मक मायाका रूप ही जानना चाहिये ।

अब श्रुति कहती है, कि यह माया अनन्त है और तुच्छ है तहां अनन्त इस कारण कहा, कि इसके जितने कार्य्य हैं उनका अन्त नहीं है यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जैसे तत्त्वोंमें प्रथम तत्त्व आकाशको ही उदाहरणमें लीजिये, कि यदि कोई इस आकाशका अन्त लानेको ऊपर नीचे दशों दिशाओंमें सहस्र युग पर्यन्त दौडा चला जावे तो कहीं इसका अन्त नहीं मिलेगा। इसी प्रकार सब मायारचित पदार्थोंको जानना चाहिये अतएव यह माया अनन्त है ।

फिर श्रुति इसको तुच्छ कहती है, सो कहनेका कारण यह है, कि जब विवेकीजन ज्ञानकी दृष्टिसे इसको देखते हैं तो तुच्छ होजाती है कर्पूरकी डलीके समान उडजाती है कहीं इसका पता नहीं लगता सर्वत्र आत्मा ही आत्मा भासने लगता है । मोहनेवाली शक्ति न

जाने कहां भागजाती है। शिवने कामको जला ही दिया। शुकने रंभा ऐसी सुन्दरीको भगा ही दिया इसलिये श्रुतिने मायाके स्वरूप को तुच्छ कहा।

फिर (व्यंजिका) अर्थात् सर्वत्र फैलनेवाली है और नित्य निवृत्त अर्थात् सदा विद्यमान होने परभी मूढोंसे यह माया आत्माके समान सत्य देखी जाती है। मूढ सदा इससे मोहित रहते हैं फिर यह सिद्धत्व करके सत्त्व और असिद्धत्त्व करके असत्त्व दीखपडती है। अर्थात् जब मोहनेमें समर्थ होती है तब सत्त्व और जहां इसका वश नहीं चलता तहां असत्त्व है। फिर यह माया स्वतन्त्र है क्योंकि असंगको संगवाला करदेती है, जिसको जैसा चाहे वना देती है। फिर वट और बीजके समान जैसे एक बीजसे अनेक वटके वृक्ष और फिर वट से बीज फिर उससे वट फिर उससे वीज एवम्प्रकार जैसे एक बीजसे सहस्रों वट उत्पन्न होते हैं ऐसे ही यह माया अपनी एक शक्तिसे अनेक प्रकारके मायामय पदार्थोंको रचकर प्रकट करती है अर्थात् यह जगत्से भिन्न होनेपर भी जगत्को रचती रहती है। तिस जगत् के अनेक होनेपर भी यह एक माया उनके साथ-साथ परिपूर्ण रहती है।

एवम् प्रकार अनेक क्षेत्रोंको (शरीरोंको) परिपूर्ण दिखलाकर अपने आभाससे जीव और ईश्वरका भेद दिखलाती है। भेद दिखलाती हुई आप भी अविद्या ही कहलाती है। यदि चाहो, कि इसका अपमान करके इसको त्यागो तो यह ऐसा नहीं करने देती। क्योंकि इसको

विचित्रता है। नाना प्रकारसे विचित्र कलाओंको करके ठगकर मोहमें डाल देती है फिर दृढ है किसीके टलाए नहीं टलती तथा बहु अंकुरा है अर्थात् एक वीजसे बहुत अंकुरकी देनेवाली है । यहां बहु अंकुरा कहनेसे ईक्षणात्मक कहनेका तात्पर्य है जैसे "तदैक्षत" उस सईश्वरने ईक्षण किया, कि "एकोऽहं बहुस्याम" एक हूं बहुत होजाऊं उसी ईक्षणके साथ-साथ यह माया भी बहुअंकुरा हुई । क्योंकि बाजीगरकी वाटिकाके समान इसमें एकसे अनेक होजानेकी शक्ति दीगयी है । चैतन्यको अभिव्यंजन अर्थात् प्रकट करनेके कारण तथा चैतन्यको आच्छादन करनेके कारण यह माया स्वयं रज, सत्व, तमस्वरूपा है । एवं प्रकार यह माया त्रिगुणात्मिका होनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु, और शिव रूपिणी है। फिर चैतन्य दीप्ता है अर्थात् चैतन्य की सहायतासे इसकी मोहनेवाली शक्ति अधिक बढ जाती है। जैसे किसी स्त्रीका सुन्दर मुख है वहां माया जडस्वरूप है अर्थात् उसकी चंचल आंखें, सुन्दर भौएं, अरुण अधराधर तथा चिक्कण कपोलादि जो बडे-बडे बुद्धिमान् और ज्ञानियोंके चित्तको आकर्षण करनेवाले हैं सो जड हैं । पर चैतन्यदीप्ता हैं अर्थात् उस शरीरके भीतर जो चैतन्य आत्मा निवास करता है और अपने स्पन्द-स्वरूपको धारण कियेहुए है इसीके प्रकाश द्वारा ये माया रचित अंग भी अधिक मोहनेवाले होरहे हैं। यदि इन अंगोंसे चैतन्य हटादिया जावे तो शरीर मृतक होजावे और उनके जितने मोहनेवाले अंग जड थे उनमें मोहनेकी शक्ति कुछ भी न रहे, घृणास्पद होजावें इसलिये मायाको चैतन्यदीप्ता कहा।

इस श्रुतिके अर्थके समझनेमें साधारण विद्वानोंको अत्यन्त कष्ट होगा ऐसा विचार कर स्वामी विद्यारण्यने अपने ग्रन्थ पंचदशीके छठवें प्रकरणमें श्लोक १२५ से १३६ तक १२ श्लोकोंमें इसी श्रुतिके अर्थको पूर्णप्रकार विस्तार करके वर्णन किया है । तिन श्लोकोंको पाठकोंके बोधार्थ यहां लिखते हैं—

" मायाचेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥ १२५ ॥
जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादनित्यं तस्य साब्रवीत् ॥ १२६ ॥
अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥ १२७ ॥
इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्यात्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ १२८ ॥
नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्यानित्यनिवृत्तितः ॥ १२९ ॥
तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥ १३० ॥
अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥ १३१ ॥
अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृतेः ॥ १३२ ॥
कूटस्थासंगमात्मानं जगत्वेन करोति सा ।

चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ १२३ ॥
कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१२४ ॥
द्रवत्वमुदके वन्हावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥ १२५ ॥
न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥ १२६ ॥ ”
(पंचदशी चित्रदीपप्रकरण श्लोक १२५ से १२६ तक)

अर्थ— यह माया तमो-रूपा है ऐसा नृसिंह तापिनी उपनिषद्में कथन कियागया है इस मायाके तमोरूपा होनेमें अनुभव ही प्रमाण है श्रुति आप ऐसा ही कहती है ॥ २५ ॥

सो इस मायाका रूप जड है और मोहात्मक है इसी प्रकार श्रुति जिज्ञासुओंको अनुभव कराती है और बालकोंसे लेकर गोपालों पर्य्यन्त अर्थात् छोटे-छोटे बच्चोंसे लेकर चरवाहोंतक स्पष्ट होनेसे यह माया अनन्त है ऐसे श्रुति कहती है ॥ २६ ॥

चैतन्यसे रहित जो घट, पट इत्यादि पदार्थोंका स्वरूप है सो जड है और जहां पुरुषोंकी बुद्धि नहीं पहुंच सकती सो मोह है। ऐसी बात सब संसारी—पुरुष मानते हैं एवम्प्रकार जडस्वरूप और मोह-स्वरूप करके इस मायाका स्वरूप प्रसिद्ध है ऐसी बात विद्वान् पुरुषोंने लौकिक दृष्टिसे अनुभव की है ॥ २७ ॥ पर युक्ति करके यदि देखा जावे तो इस मायाका स्वरूप अनिर्वचनीय है। न सत्य है न असत्य

है इसके स्वरूपके विषय कोई भी कुछ कह नहीं सकता ऐसे श्रुति कहती है ॥ २८ ॥ इसे असत्य क्यों नहीं कहते ? कारण यह है, कि यह प्रतीत होती है और सत्य इस कारण नहीं कहते, कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होनेसे नाश होजाती है। फिर इन दोनों बातोंके परस्पर विरुद्ध होनेसे सत्य असत्य दोनों ही नहीं है । इस प्रकार युक्तिसे देखनेसे मायाका स्वरूप अनिर्वचनीय है। परे ज्ञानकी दृष्टि द्वारा देखनेसे मायाका स्वरूप तुच्छ है क्योंकि शशकशृंग (खरहेके सींग) के समान यह माया नित्य निवृत्त होनेसे सदा अविद्यमान ही है । कहीं रंचकमात्र भी कुछ नहीं है । क्योंकि " नेह नानास्ति किंचन " इस श्रुतिके वचनानुसारे केवल ब्रह्मको छोड अन्य कुछ भी नहीं इसलिये मायाकी नित्य निवृत्ति सिद्ध है ॥ २६ ॥

अब इस मायाका स्वरूप तीन प्रकारका है— तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तवी श्रौतबोध अर्थात् ज्ञानवानोंने जो श्रुतियोंसे अनुभव करके ज्ञान प्राप्त किया है तिस ज्ञानकी दृष्टिसे देखनेसे मायाका स्वरूप तुच्छ है, कुछ भी नहीं है। क्योंकि ज्ञान होनेसे माया रेहती ही नहीं। जैसे बाजीगर चमडेसे सर्प बनाकर दिखलाता है, सिरपर आंच बालकर रोटी पकालेता है देखनेवालोंको आश्चर्य्य होता है पर जब उसका ठीक-ठीक भेद खुलजाता है तो बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें वह सारी बाजीगरी तुच्छ होजाती है । इसी प्रकार संसृति-भेदके ज्ञान होनेसे माया तुच्छ होजाती है इसलिये तुच्छ कहीगयी।

फिर युक्ति दृष्टिसे देखनेसे अनिर्वचनीय है सत्य असत्य दोनोंसे रेहित है फिर यह सत्य करके भी भान होती और असत्य करके भी

भान होती है। जैसे दिङ्मण्डल जिसे दिक्-चक्र और अंबरान्त (Horizon) भी कहते हैं तहां दृष्टि करनेसे आकाश, पृथ्वीके साथ लगाहुआ जान पडता है पर समीप जानेसे वह दिङ्मण्डल असत्य होजाता है। इसी प्रकार शुक्लपक्षमें चन्द्रमा टुकडे-टुकडे देख पडता है पर यथार्थमें वह टुकडा नहीं है सम्पूर्ण है केवल जितना भाग उसका सूर्य्यके सम्मुख होता है प्रकाशित रहता है इसी कारण खण्ड-खण्ड देख पडता है। सो माया है। इसलिये युक्तिकी दृष्टिसे यह माया अनिर्वचनीय है। अज्ञानियोंकी दृष्टि करके मायाका स्वरूप सत्य है। क्योंकि अज्ञानी इस मायासे अवश्य मोहित होते हैं और मोहित होकर व्यभिचार, चोरी इत्यादि दुष्कर्मोंको दिन रात करते रहते हैं ॥ ३० ॥

यह माया दशों दिशाओंमें फैलकर जगत्की सत्ताको दिखाती है। जैसे चित्रित हुआ वस्त्र खोलकर पसारदेनेसे घोडे, हाथी इत्यादि नाना प्रकारके चित्रोंकी सत्ताको दिखाता है। इसी प्रकार माया फैलकर जगत्की सत्ताको दिखाती है पर जैसे वह चित्रित वस्त्र समेटदेनेसे चित्रोंको कोई नहीं देखता इसी प्रकार यह माया जब संकोचको प्राप्त होती है अर्थात् ब्रह्ममें सिमटती है तब जगत्की असत्ताको दिखलाती है अर्थात् जगत्का अभाव होजाता है ॥ ३१ ॥

फिर यह माया अस्वतंत्र है इसका अपना कुछ नहीं चलता क्योंकि बिना चैतन्यके इसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जडकी प्रतीति नहीं होती। पर्वतको समुद्रकी गहरायी और समुद्रको पर्वतकी ऊँचायी प्रतीति नहीं होसकती। क्योंकि दोनों जड हैं। इसी प्रकार

जड होनेके कारण मायाकी प्रतीति नहीं होसकती। चैतन्यको ही माया मोहित करसकती है।

अब कहते हैं, कि सो माया स्वतंत्र भी है अर्थात् बिना किसीकी सहायताके सब कुछ करसकती है इसी कारण असंगको अन्यथा अर्थात् संग करदेती है। जैसे विश्वामित्र ऐसे असंग तपस्वीको मेनकाअप्सरासे संग करदिया॥ ३२॥

अर्थात् कूटस्थ जो आत्मा तिसे जगत्-रूप बनादेती है और चिदाभास-रूप करके जीवको भी रचदेती है। यह माया सत्त्वगुण को स्वीकार कर ईश्वर और तमोगुणको स्वीकार कर जीवकी रचना करदेती है॥ ३३॥

यदि शंका हो, कि जब यह माया कूटस्थ आत्माको जगत् जीव और ईश्वर-रूप करदेती है तव तो आत्माकी कूटस्थताका नाश हुआ सो नहीं होना चाहिये। तो उत्तर इसका यह है, कि आत्माकी कूटस्थताका कभी नाश नहीं होता फिर जगत् और जीव ईश्वर-रूप होजाते हैं। यदि शंका हो, कि ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा होना कब संभव है? तो उत्तर इसका यह है, कि माया तो उसीको कहते हैं, कि जो वार्त्ता न बने तिसे बनादेवे। इसलिये आत्माकी कूटस्थताका नाश न करके जगत् और जीवको ईश्वर-रूप करदेना आश्चर्य्यकी बात नहीं। जब माया ही ठहरी और बुद्धिको कुंठित करदेनेवाली ठहरी तो कैसे क्या करदेती है इसका ब्योरा कौन जाने? यही तो मायामें विशेष चमत्कार है॥ ३४॥

फिर जैसे जलमें द्रवता (बहनेका स्वभाव) और अग्निके विषय उष्णता (जलानेका स्वभाव) है तथा पत्थरमें कठिनता स्वभाव सिद्ध है इसी प्रकार मायाका भी यह स्वभाव सिद्ध है, कि जो बात न बने उसे बनादेवे ॥ ३५ ॥

जितने काल पर्य्यन्त प्राणी इस मायाके रचनेवालेको नहीं जानता उतने काल पर्य्यन्त माया उसके सम्मुख अनेक प्रकारके चमत्कारोंको दिखाती रहती है अर्थात् मोहमें डालती रहती है। पर जब प्राणीको मायाके रचनेवालेका पता लगजाता है तब वह माया आपही नष्ट होजाती है ॥ ३६ ॥

इसी वार्त्ताको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस श्लोकमें दिखलाया चाहते हैं। यहांतक मायाके स्वरूपका वर्णन होचुका।

अब इसे दैवीमाया क्यों कहते हैं? इसका वर्णन कियाजाता है—दैवी माया इसे इसलिये कहते हैं, कि यह माया स्वयम् उस ब्रह्मदेवकी है अन्य किसी देवता राक्षस वा बाजीगरकी नहीं है यह साक्षात् उसी महेश्वर महाप्रभुकी है गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

"कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ युगल प्रबल करिमाने।
'तुलसिदास' जब छूट तीन भ्रम तब आपन पहिचाने॥"

"केशव" कहिन जात का कहिये। देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिये॥"

इसी कारण कहते हैं, कि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्। अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"

(पंच० प्रक० ६ श्लो० १२३)

अर्थ— प्रकृतिको तो माया जानो और उस महेश्वरको उस मायाका करनेवाला जानो ! जिसके अवयव अर्थात् अशेष जीवोंसे यह जगत् व्यापरहा है । श्रुतिका यही अर्थ है ॥ इसी कारण इस मायाको दैवी माया कहते हैं ।

अब विचारने योग्य है, कि साधारण कंगाल कौडी २ के मांगनेवाले बाजीगर नट मदारीकी माया तो एकाएक विना मदारीके बताये समझमें नहीं आती और बुद्धिमानोंको मोहलेती है फिर कब संभव है ? कि उस महेश्वरकी वह माया किसीकी समझमें आजावे जिस मायासे सम्पूर्ण लोकलोकान्तरनिवासी सभी मोहित होरहे हैं ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" यह मेरी त्रिगुणमयी माया दुरत्यया है जिसको शीघ्र छोडना कठिन है। यहां तीन गुण कहनेसे यह भी तात्पर्य है, कि जैसे तीन गुणकी रस्सी जो दृढ करके बांटी जाती है वह पशुओंके बांधनेमें दृढ होती है । इसी प्रकार भगवान कहते हैं, कि यह मेरी तीनों गुण-वाली माया जीवोंके बांधनेमें अत्यन्त दृढ और प्रबल है । जो कोई चाहे, कि इससे बल करके छूटूं तो जैसे-जैसे बल करेगा अधिक-अधिक फँसता जावेगा। क्योंकि गलेमें जो फँसरी वैठजाती है उसमें जितना बल कीजिये अधिक-अधिक गलेमें बैठती चली जावेगी । अथवा किसी उलझीहुई डोरीको यदि शीघ्रताके साथ खैंचकर सुल-झाया चाहे तो और अधिक उलझती चलीजावेगी । इसी प्रकार जो

कोई चाहे, कि इस मायासे बल करके छूटे तो और अधिक फँसता जावे इसीलिये किसी उपायसे छूटना दुस्तर है। श्री गोलोकविहारी जगत्-हितकारी इस मायासे छूटनेका यथार्थ उपाय अर्जुनके प्रति यों कहते हैं, कि [मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते] जो प्राणी मेरी शरण प्राप्त होते हैं, मत्परायण होते हैं, अपना सर्वस्व मुझमें अर्पण कर मुझहीको अपना रक्षक जानते हैं, और अहर्निशि मेरे ही आश्रय रहकर अन्य किसी देवता देवी वा राजा रानीका भरोसा नहीं करते, सदा मुझ ही में मग्न रहते हैं अर्थात् जो मेरी उपासना करते हैं वे ही इस मेरी मायाको तरजाते हैं। उसपर यह मेरी माया तनक भी बल नहीं करसकती वरु उनसे डरती है और अलग होरहती है। कारण इसका यह है, कि मैं ही मायावी (नट) हूं मुझको लोग नटनागर कहते हैं अर्थात् चतुर नट कहते हैं। क्योंकि मेरी नटबाजीका पता आज तक वेदको भी नहीं लगा। ब्रह्मादि तैंतीस कोटि देव सब मेरी मायासे घबराते हैं। केवल मेरे आश्रय रहनेवाले ही इस मेरी प्रबला और दुर्जया मायाको तरसकते हैं।

सच है भगवान्‌के इस वचनमें तनक भी सन्देह नहीं है। गोसांई तुलसीदासका वचन है, कि " नटसेवक नहिं व्यापै माया ", (रामायण) नटके सेवकको नटकी माया नहीं व्यापती क्योंकि सेवक नटका उपासक है, सदा उस नटके समीप बैठता है, रहता है और खाता पीता है। जिस समय वह नट (बाजीगर) अपनी पिटारीको खोल, खेल पसारता है उस समय उसका सेवक उसके समीप बैठा रहता है अर्थात् उस सेवककी उपासना उस नटमें है।

इसलिये वह सब कलाओंको जानता है नटका सेवक झट अपना मस्तक नटके आगे करदेता है, कि मेरे मस्तकपर चूल्हा बालकर रोटियां पकालो नट पूछताजाता है, कि क्योंरे जमूरे तेरा सिर पका तो नहीं? सेवक उत्तर देता है पकाये जाओ मैं बडे आनन्दमें हूं। इसी प्रकार जो भगवानका उपासक है उसे माया नहीं व्यापती ॥ १४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! जब आपकी शरण होकर आपकी उपसनासे मायाकी निवृत्ति होजाती है तो क्या कारण है, कि सर्व साधारण प्राणी इस विषयको जानकर आपकी शरण नहीं होते और आपकी उपासना क्यों नहीं करते?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

पदच्छेदः— दुष्कृतिनः (पापकारिणः पापेन सह नित्ययोगिनो वा) मूढाः (इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमिति विवेकशून्याः। तस्मात् संमोहम्प्राप्ताः) नराधमाः (निकृष्टाः) मायया, अपहृतज्ञानाः (संमुषितज्ञानाः) आसुरं, भावम् (हिंसाऽनृतादि लक्षणम्) आश्रिताः (प्राप्ताः) माम् (वासुदेवम्) न, प्रपद्यन्ते (प्रपन्ना भवन्ति भजन्ति वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (दुष्कृतिनः) पापोंके करनेवाले पापात्मा-पुरुष (मूढाः) ज्ञानरहित (नराधमाः) मनुष्योंमें अत्यन्त नीच और अधम (मायया) मायासे (अपहृतज्ञानाः) जिनका ज्ञान नष्ट होगया है इसी कारण जो (आसुरं, भावम्) आसुरीभावको

(आश्रिताः) आश्रय कियेहुए हैं अर्थात् राक्षसी भावको प्राप्त हैं वे (माम्) मुझ सर्वेश्वर वासुदेवकी (न, प्रपद्यन्ते) शरण नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरी उपासना द्वारा मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः] जो लोग दुष्कृत हैं अर्थात् अनेक जन्मोंसे पापाचरण करते चले आरहे हैं इसी कारण अन्तःकरणपर उन पापोंके मलके जमजानेसे चित्त जिनका शुद्ध नहीं रहता। जैसे दर्पणपर मल जमते २ वह ऐसा मलीन होजाता है, कि फिर उसमें मुख नहीं देखाजाता । इसी प्रकार अन्तःकरणपर पापके मल जमजानेसे अपनी हानि वा अपना लाभ नहीं सूझता इसलिये मूढताको प्राप्त होजाते हैं ऐसे पुरुष मेरी उपासना कर मुझको नहीं भजते तथा मेरी शरण नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि हृदय मलीन होनेके कारण उनको सूझता ही नहीं है, कि मैं कौन हूं इसलिये उनका मेरे सम्मुख होना कठिन है । फिर कैसे हैं ? कि मनुष्योंमें अत्यन्त नीच हैं, निकृष्ट हैं, पापी हैं, स्पर्श-करनेके योग्य नहीं हैं । क्योंकि जो लोग " नराधम " मनुष्योंमें अधम हैं, लज्जा शून्य हैं, कामी हैं, जिनको काम-क्रीडा करनेमें कर्तव्यका विचार नहीं है। फिर वे कैसे हैं, कि [माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः] मायासे जिनका ज्ञान नष्ट होगया है क्योंकि मायाको जिन मूढोंने सत्य समझकर आसुरी भावका आश्रय करलिया है अर्थात् पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिको ही सत्य और परलोकको असत्य जानकर दिन रात द्रव्य कमा २ कर केवल

इन अपने सम्बन्धियोंके ही पालन पोषणमें लगे हैं । उपकारमें जिनकी एक कौडी भी कभी व्यय नहीं होने पाती, भूखे प्यासे जिनके द्वारसे लौटजाया करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानताका आवरण जिनके ज्ञानपर पडाहुआ है कौडीके लिये तथा स्त्रीके लिये गौ और ब्राह्मणको मारडालनेमें जो तनक भी विलम्ब नहीं करते तथा देवता पितरको तो भूत-प्रेतके समान समझते हैं कभी किसी देव वा पितृ-कर्मको नहीं करते। क्योंकि वे तो परलोकको मिथ्या समझते हैं, इस मर्त्यलोक ही को जो मुख्य मानते हैं " ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् " ऋण करके घृत पीयेजावो यही जिनका सिद्धान्त है अनात्म-वादमें जो रत रहते हैं तथा वेद-शास्त्रको नहीं मानते वरु वेदादिकी निन्दा करते रहते हैं विषयके तो दास ही हैं जिनके वचन कागोंके शब्दसे भी अत्यन्त कठोर होते हैं। शरीरसे जिनको अधिक स्नेह रहता है साधु ब्राह्मणोंको देखकरे जो मुंह मोडलेते हैं और वेश्याको देखकर मुंह जोडलेते हैं उससे बडी रुचिसे बातें करते हैं । वेष तो हंसोंकासा बनाये रहते हैं पर उनके कर्तव्य कागलोंके सदृश हैं कलिमलके तो भण्डारे ही होते हैं परायेकी निन्दाकरनेमें जिनकी शेषके समान सहस्र जिह्वा बनजाती हैं और परायेकी निन्दा सुननेमें जो पृथुराजके समान सहस्र कानवाले बनजाते हैं, परायेकी हानि सुनकर जो हर्षित होते हैं और लाभ सुनकर अप्रसन्न होते हैं एवम्प्रकारे जिनका ज्ञान मायासे आच्छादित होरहा है ऐसे प्राणियोंको मुझ भगवत्‌की उपासना अच्छी नहीं लगती ।

फिर ऐसे अज्ञानी (आसुरं भावमाश्रिताः) आसुरी-भावको प्राप्त रहते हैं हिंसा करना, मिथ्या वचन कहकर परायेको धोकादेना

दंभ पाखण्डमें रत रहना, मारे अहंकारके अपने समान किसीको न सम-झना, चंचल-स्वभाव और अव्यवस्थित-चित्त रहना, शौचसे रहित रहना; अन्यायसे अर्थका संचय करना और नाना प्रकारकी आशाओंमें फँसे रहना एवम्प्रकार नानाविध मोह-जालसे घिरेहुए प्राणी आसुरीभाव-वाले कहेजाते हैं। इसी आसुरीभावका वर्णन भगवान् १६ वीं अध्यायमें पूर्णप्रकार करेंगे।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी कदापि भगवत्-शरण नहीं होते। इसी कारण भगवानने अपने मुंहसे इनका लक्षण वर्णन करेदिया। और कह दिया, कि ऐसे मूढ न मुझको जान सकते हैं, न मेरी उपासना कर सकते हैं वे तो सदा भगवद्विमुख रहते हैं। सगुण निर्गुण वा साकार निराकार तथा प्रवृत्ति वा निवृत्ति किसी प्रकारका बोध ही जिनको नहीं होता।

शंका— जब भगवानकी माया अत्यन्त प्रवला और बडे २ बुद्धिमा-नोंको मोहमें डालनेवाली है सो भगवान् स्वयं कह आये हैं तब इन बेचारे आसुरीभाववालोंका क्या दोष?

समाधान— जिस मायावी महाप्रभुने अपनी माया प्रकट करदी तो उसीके साथ २ इस मायाको हटानेके निमित्त वेद, शास्त्र, आचार्य तथा अन्य महापुरुषोंको भी तो प्रकट करदिया और यह आज्ञा देदी, कि प्र० श्रु०— उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। उठो जागो और आचार्योंसे जाकर शिक्षा लो. फिर भी ये आसुरीमाया-वाले जो मायासे तरनेके साधनकी ओर अपनी बुद्धिको नहीं लगाते यही इनका दोष है। हां यदि परमात्मा इन आसुरीभाववालोंको बुद्धि

प्रदान नहीं करता तो अवश्य यह कहनेकी ठौर थी, कि परमात्माने माया क्यों बनायी। देखो! परमात्माने पिपासा (प्यास) बनायी तो उसीके साथ शीतल जल बनाया, भूख बनायी तो उसके प्रतीकारमें अन्न बना दिया, ठण्डक बनायी तो अग्नि बनादी तात्पर्य्य यह है, कि परमात्माने माया बनायी तो उसीके साथ उसके दूर करनेका भी यत्न बनादिया। इसलिये परमात्माको तथा मायाको किसी प्रकारका दोष नहीं लगसकता। अतः भगवान्का यह कहना, कि आसुरीभाववाले दूषित हैं मेरी शरण आनेका उपाय नहीं करते सांगो-पांग उचित है। इसमें शंकाका कोई स्थान नहीं है ॥ १५ ॥

अब अर्जुनने भगवानसे यह पूछा कि हे भगवन्! आपके भजन-करनेवाले अर्थात् उपासना करनेवाले सब एक ही समान होते हैं अथवा इनमें कुछ भेद भी होता है ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मु०—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्ज्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥ १६ ॥

पदच्छेदः--- [हे] भरर्तषभ! (भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन!) आर्तः (तस्करव्याघ्रशत्रुरोगाद्यापद्ग्रस्तः तस्मातपीडापरिहारार्थी ताप-त्रयपीडितः) जिज्ञासुः (मुमुक्षुः । भगवत्तत्त्वं ज्ञातुमिच्छुकः) अर्थार्थी (धनाद्यर्थी भोगसाधनभूतार्थलिप्सुः) ज्ञानी (विष्णो-स्तत्त्ववित् भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तः) च [एते] चतुर्विधाः (चतुष्प्रकाराः) सुकृत्तिनः (कृतपुण्याः । पुण्यकर्म्माणः) जनाः (पुरुषाः) माम् (वासुदेवम्) भजन्ते (सेवन्ते) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमेंश्रेष्ठ (अर्जुन !) अर्जुन ! (आर्त्तः) जो प्राणी नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे दुःखित है तथा (जिज्ञासुः) जो मुमुक्षु है भगवत्तत्त्वके जाननेकी इच्छा रखता है तथा (अर्थार्थी) जो धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादिकी कामना वाला तथा (ज्ञानी, च) जो निष्काम होकर केवल भगवत्तत्वमें मग्न रहता है (चतुर्विधाः) ये चार प्रकारके (सुकृतिनः, जनाः) पुण्यात्मा प्राणी (माम) मुझ वासुदेवको (भजन्ते) भजते हैं अर्थात् मेरे भजन करनेवाले चार प्रकारके होते हैं आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तूने जो मेरे भजन करनेवालोंके विषय पूछा सो तू निश्चय करके जान ! कि [**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !**] चार प्रकारके मेरे भक्त जो पुण्य कर्मोंके करनेवाले हैं तथा जिन्होंने पूर्व-जन्मोंमें अनेक प्रकारकी सुकृतियोंका सम्पादन किया है इसलिये मेरे पूर्ववचनानुसार जिनकी बुद्धिका संयोग मेरी उपासनाकी ओर लगा है। जैसा, कि मैं पहले तुझसे कह आया हूं, कि "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम" अर्थात् पूर्व-शरीरमें जितना उत्तम कर्मोंके सम्पादन करनेसे जहांतक बुद्धिका संयोग होचुका था वहांतक विना परिश्रम इस वर्त्तमान जन्ममें आपसे आप बुद्धिका संयोग होजाता है, तिस बुद्धि-संयोगके बलसे वे मेरी उपासनाकी ओर झुकते हैं और मेरा भजन किया चाहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ !**] हे भरतकुल शिरोमणि अर्जुन ! वे चार प्रकारके ये हैं— आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी इनमें पूर्वके जो तीन हैं वे सकाम हैं और चौथा ज्ञानी निष्काम है सो ये चारों मेरा ही भजन करनेवाले हैं।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि ये चारों भिन्न-भिन्न तात्पर्यसे मेरा भजन करते हैं। इनमें जो आर्त हैं जिनको तस्करोंसे, लुटेरोंसे और चाण्डालोंसे नाना प्रकारके दुःख प्राप्त हुए हैं अथवा व्याघ्र, सर्प इत्यादि क्रूर जीवोंसे क्लेश पाया है अथवा किसी शत्रुसे आक्रमण कियेजानेके कारण राज्य--रहित होगये हैं वा धनादिक छिनजानेके कारण दरिद्र होगये हैं अथवा शत्रुसे पराजय होनेके कारण कारागार इत्यादिमें बँधेहुए हैं तथा नाना प्रकारके ज्वर, प्लीहा, काश श्वासादि रोगोंसे जो पीडित होरहे हैं अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंसे जो भयभीत होरहे हैं। तात्पर्य यह है, कि किसी प्रकारके दुःखसे जो पीडित हैं वे आर्त कहलाते हैं सो ये आर्त-जन अपने दुःखोंके नाश करनेके प्रयोजनसे भगवान्का भजन करते हैं, भगवान्की शरण जाकर उनकी उपासना करते हैं। जैसे जब इन्द्रदेव कोप करके व्रजमें वर्षा करतेहुए वज्रपातादि दुःखोंसे व्रजवासियों को पीडित करने लगा उस समय व्रजवासियोंने अत्यन्त क्लेशित होकर भगवान्की शरण जा पुकारा, कि " **कृष्ण ! २ महाभाग ! त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ! त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल !** "

(श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० २५ श्लो० १३)

अर्थ— हे कृष्ण ! हे कृष्ण !! हे महाभाग ! हे प्रभो ! हे भक्तवत्सल ! आप गोकुलके नाथ हो अर्थात् रक्षक हो ! इसलिये इन्द्रदेवके कोपसे हमलोगोंकी रक्षा करने योग्य हो सो हे नाथ ! हम लोगोंकी रक्षा करो !

एवम्प्रकार इन आर्तोंके वचनोंको श्रवणकर भगवान्‌ने गोवर्धन पर्वतको कनिष्टकापर उठालिया और उनकी रक्षा की । प्रमाण— " इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् । दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः " (श्रीमद्भा० स्कं० १० श्लो० १९ अ० २५)

अर्थ— भगवान्‌ने इन आर्तोंको यह कहकर, कि तुमलोग मेरी शरण हो इसलिये मैं तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा अपने एक हाथसे गोवर्धन पर्वतको उठाकर इस प्रकार धारण करलिया जैसे छोटा बालक गोबर छत्ताको उठालेता है और उसी पर्वतके नीचे सबकी रक्षा की ।

इसी प्रकार जब गजेन्द्रको ग्राहने जलमें ग्रसलिया और गजराज अपना सारा पुरुषार्थ लगाकर थकगया और जाना, कि अब मैं ग्राहसे नहीं बचूंगा तब एकाग्रचित्त, अति दीन और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारने लगा तब भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे उसकी जान बचायी सो गजराजने किस प्रकार स्तुति की है व्यासदेव लिखते हैं—

" मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय । स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसिप्रतीतप्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ " (श्रीमद्भागवत स्कंध ८ अ० ३ श्लो० १७)

अर्थ— जो भगवान् मेरे समान शरणागत पशुओंके अज्ञानरूप फांसको एक बारगी तोडदेनेमें आलस्य रहित हैं तथा जो स्वयं मुक्त-स्वरूप हैं, जो जीवोंपर अत्यन्त करुणाके करनेवाले हैं, जो अन्तर्यामी-रूपसे सकल देहधारी प्राणियोंके मनमें प्रसिद्ध आन्तरिक ज्ञानरूप होकर भी अपरिच्छिन्न हैं और जो सकल प्राणियोंको अपने वशीभूत रखनेको समर्थ हैं ऐसे भगवत्के लिये मेरा नमस्कार है सो भगवत् मुझ पशुके फांसको भी छुडावे।

एवम्प्रकार गजेन्द्रके विलापको सुनकर भगवान् गरुडपर आरूढ हो उस गजेन्द्रके समीप पहुंच उसको ग्राहसे छुडाया जिसकेलिये भगवान् व्यासदेव यों लिखते हैं— " तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसा-वतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार। ग्राहाद्विपाटितमुखा-दरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥ " (श्रीमद्भा० स्क० ८ अ० ३ श्लो० ३३)

अर्थ— तब भगवान् करुणानिधानने सरोवरके समीप गरुडपर शीघ्र ही पहुंच ऐसा विचारा, कि गरुड इतना शीघ्र नहीं पहुंच सकता इसलिये गरुडको छोड नीचे उतर पांपैदल जन्मादि विकारोंसे रहित श्री हरिने उस गजेन्द्रको पीडित देखकर बडी कृपाके साथ उस ग्राहसहित उसको सरोवरसे बाहर निकाल और उस ग्राहका मुख चीरकर सकल देवताओंके देखते हुए गजराजको छुडाया।

इसी प्रकार द्रोपदी इत्यादि आर्त भक्तोंकी अनेक कथाएँ पुराणों में भरी पडी हैं जिनसे यह सिद्धान्त होता है, कि चार प्रकारके भक्तों

में आर्तोंके विलापको सुन भगवान् प्रकट होते हैं इसी कारण यद्यपि ये आर्त भक्त सकाम हैं तथापि भगवान‌की कृपादृष्टि तो इनपर होती ही है।

अब दूसरे जिज्ञासु वे हैं जो भगवत्प्राप्तिके तात्पर्यसे भगवान‌की उपासना और भजन करते हैं। जैसे उद्धवजी, राजा जनक, मुचकुन्द, जयबलि, अश्वपति, श्वेतकेतु इत्यादि।

उद्धवजी जिज्ञासु होकर श्यामसुन्दरसे कहते हैं, कि "सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे। तत्त्वंजसा निगदितं भवता यथाऽहं संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥" (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ७ श्लो० १६)

अर्थ— उद्धवजी कहते हैं, कि हे भगवन्! मैं आपकी विमूढा मायासे रचेहुए पुत्र, कलत्रादि तथा अपनी देहके विषय यह मैं और यह मेरा ऐसी मूढ-बुद्धिमें निमग्न होरहा हूं। इसलिये हे भगवन्! जो ब्रह्मतत्त्व आपने मुझसे संक्षेपसे कहा है उसे अपने सेवक मेरे लिये विस्तार-पूर्वक इस प्रकार कहिये, कि मैं उसे सुखपूर्वक साधन करसकूं।

उद्धवकी इस जिज्ञासाको सुनकर भगवानने उद्धवको यह शिक्षा दी, कि मनुष्यमें मैंने एक बुद्धिरूप रत्न ऐसा देदिया है, कि जिसके द्वारा मनुष्य आपसे आप जहां चाहे जिसे गुरु बनाकर शिक्षा प्राप्त करले। जो बुद्धिमान हैं वे पात-पातसे डाल-डालसे शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं और मूर्खको तो ब्रह्मा भी गुरु मिलजावे तो उससे कुछ भी

लाभ नहीं उठासकता। इसलिये जो अधिकारी है वह तो सब ठौर, सब वस्तुओंको गुरु मान शिक्षा प्राप्त करसकता है ऐसे पुरुषको यथार्थ जिज्ञासु कहते हैं। जैसे अवधूत दत्तात्रेयने २४ गुरु किये उन चौबीसोंसे शिक्षा प्राप्त की है किससे क्या शिक्षा प्राप्त की पाठकोंके तथा जिज्ञासुओंके कल्याणार्थ यहां कथन कीजाती है— "पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः । कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतंगो मधुकृद्गजः ॥ मधुहा हरिणो मीनः पिंगला कुररोऽर्भकः । कुमारी शरकृत्सर्प उर्णनाभिः सुपेशकृत ॥" (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ७ श्लो० ३३, ३४)

अर्थ— १. पृथ्वी, २. वायु, ३. आकाश, ४. जल, ५. अग्नि, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. कपोत, ६. अजगर, १०. समुद्र, ११. पतंग १२. मधुमक्षिका, १३. हाथी, १४. मधुहा (जो मधु छुडाता है) १५. हरिण, १६. मत्स्य, १७. पिंगला (वेश्या) १८. कुरर पक्षी, १६. बालक, २० कुमारी, २१. बाणबनानेवाला, २२. सर्प, २३. मकडी और २४. भृंगी (भौंरा) ।

दत्तात्रेय अवधूत महाराज कहते हैं, कि इन्हीं चौबीसोंसे चौबीस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त की।

१. पृथ्वी—से क्षमा सीखी क्योंकि पृथ्वीपर प्राणी मल-मूत्र करते हैं थूकते हैं, पांवसे खूंदते हैं पर पृथ्वी माता इन सब दोषोंको क्षमा ही करती है। इसीसे पृथिवीको क्षमा भी कहते हैं। फिर इस पृथिवी पर जो पर्वत और वृक्ष हैं इनसे परोपकार भी होता है क्योंकि ये नाना प्रकारके खनिजपदार्थोंसे तथा फल-फूलोंसे परोपकारही करते हैं।

२. वायु—यह वायु दो प्रकारकी है प्राण-वायु और सामान्य-वायु इनमें प्राण-वायुसे सन्तोष सीखा और साधारण-वायुसे निर्लेपता सीखी। क्योंकि प्राण-वायु किसी प्रकारका आहार मिलनेसे सन्तुष्ट होजाती है और साधारण वायु शीत, उष्ण, सुगन्ध, दुर्गन्धके साथ मिलनेपर भी निर्लेप रहती है । इस प्रकार साधु सबके संग रहते हुए भी सबसे निर्लेप रहे ।

३. आकाश—से आत्माकी सर्वव्यापकता सीखी जैसे आकाश घटादिमें रहनेपर भी किसीसे बद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा सर्वत्र व्यापक रहनेसे किसी भी शरीरादिका बद्ध नहीं होता ।

४. जल—से परायेको स्वच्छ करदेना सीखा जैसे जल परायेके मलोंको धोकर तथा वस्त्रोंके मलोंको धोकर स्वच्छ करडालता है। इसी प्रकार साधु परायेको उपदेश द्वारा स्वच्छ करे ।

५. अग्नि—से तीन मुख्य बातें सीखीं जैसे अग्नि अपने पेटमें सब वस्तुओंको लेकर भस्म करडालती है ऐसे साधु परायेके दोषोंको पेटमें रखकर भस्म करदे ।

जैसे अग्नि यज्ञादिमें पूजित होकर पापोंका नाशकर स्वर्गके प्रदान-करनेका कारण है। ऐसे साधु भी पराये पापोंको नाशकर स्वर्ग प्राप्त करनेके योग्य बनादेवे ।

जैसे गोल, लम्बा, चौकोन इत्यादि काठोंमें लगकर अग्नि तदाकार बनजाती है पर आप नहीं विकृत होती। इसी प्रकार आत्मा सब रूपमें तदाकार होकर आप विकृत नहीं होता ऐसा जाने ।

६. चन्द्रमा—से आत्माका अव्यय होना जाना। अर्थात् जैसे चन्द्र-मण्डलमें कलाएँ बढती घटती देखपडती हैं पर यथार्थमें चन्द्रमण्डल घटता बढता नहीं वह तो ज्योंका त्यों रहता है। इसी प्रकार कुमार, युवा, वृद्ध इत्यादि अवस्थाओंकी घटी बढी शरीरमें हेती है आत्मामें नहीं।

७. सूर्य—से यह ज्ञान प्राप्त किया, कि जैसे सूर्य्य आठ महीने तक संसारके जलको खींचता है और चार महीने छोडता है पर इस बातका अभिमान नहीं करता इसी प्रकार योगी भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयको खैंचे और उस प्राप्त-विषयको परायेको देदेवे उसमें आसक्त न होवे और अभिमान न करे।

फिर जैसे एक ही सूर्य्य भिन्न २ जल भरेहुए पात्रोंमें स्थूल बुद्धिवालों द्वारा विलग २ दीखपडता है पर यथार्थमें ऐसा नहीं इसी प्रकार स्थूल-बुद्धिवालोंसे यह आत्मा प्रति शरीरमें निराला २ देख पढता है पर यथार्थमें ऐसा नहीं एक ही आत्मा सबमें है।

८. कपोत—कपोतने जैसे अपनी स्त्री कपोती और अपने बच्चोंको बहेलियाके जालमें फँसेहुए देखकर अत्यन्त दुःखित हो आपने भी फँसके प्राण दिया क्योंकि उनसे यह अधिक स्नेह रखता था। इसी प्रकार जो गृहस्थ इन अपने सम्बन्धियोंसे अधिक स्नेह रखता है वह अन्त-कालमें हाथ मल २ सर्वप्रकार पछताता है और मरजाता है। अर्थात् प्राणी किसीके साथ प्रीतिकर उसका लालन पालन न करे, यदि करेगा तो कपोतके समान पछताना पडेगा। (इसका पूर्ण इतिहास श्रीमद्भागवत स्कं० ११ अ० ७ में देखो)

९. अजगर—सर्पसे प्रारब्धाधीन होना सीखा। जैसे अजगर पडा २ कुछ नहीं करता आपसे आप उसके प्रारब्धानुसार मीठा फीका भोजन आमिलता है। इसी प्रकार परमहंस ईश्वरमें लौ लगाये आप एकठौर पडारहे कुछ न कुछ भोजन आही जावेगा।

१०. समुद्र—से गम्भीरता सीखी जैसे समुद्र वर्षाकालमें बहुतसी नदियोंके प्रवेशकरनेपर भी हर्षित नहीं होता और ग्रीष्मकालमें शुष्क नहीं होता। इसी प्रकार जिज्ञासु गंभीर रहे हर्ष शोक न करे और जैसे समुद्रका कोई थाह नहीं पाता इसी प्रकार ऐसा रहे, कि उसका कोई थाह न पावे।

११. पतंग— जैसे अग्निमें रूप देखकर दौडता है और भस्म होजाता है ऐसे किसी रूपको देखकर उसपर आसक्त न हो नहीं तो पतंगके समान नाश होना पडेगा।

१२. मधुकर— ये दो प्रकारके होते हैं एक तो भौंरा जो भिन्न २ पुष्पोंसे रस लेता है पर किसी पुष्पको कुछ दुःख नहीं देता इससे यह शिक्षा प्राप्त की, कि अवधूतको चाहिये, कि किसी गृहस्थको कुछ दुःख न देकर थोडी २ भिक्षा सबसे ग्रहण करे। ऐसा न करे, कि जैसे वह भौंरा अधिक रसके लोभसे एक कमलमें जा फँसता है तब सन्ध्याकालमें कमलके मुंदजानेसे वह भी उसी कमलमें बंधजाता है पीछे प्रातःकाल गजेन्द्र आकर उस कमलको जब चरने लगता है तो वह भ्रमर उसके मुंहमें प्रवेशकर नष्ट होजाता है। ऐसे अवधूत एक स्थानमें फँसकर नष्ट न होवे।

दूसरी मधु-मक्षिकासे यह शिक्षा पायी, कि भिक्षादिका संग्रह करके यह कल खाऊँगा और फिर परसों खाऊँगा ऐसा विचार एकत्र न करे नहीं तो जैसे मधुनिकालनेवाला मक्खियोंके मधुको निकाल लेता है और अनेकन मधुमक्खियां कुचलकर मरजाती हैं तथा जो जीती रहती हैं उनके भी वह मधु काम नहीं आता इसलिये योगी किसी प्रकारका संग्रह न करे।

१३. हस्ती— से स्पर्शसुखके त्यागकी शिक्षा पायी और स्त्री इत्यादिको शत्रु रूप जाना। क्योंकि जैसे हस्ती काठकी हथिनीको देख भोग करने दौडता है और गडहेमें गिरकर मनुष्योंके बन्धनमें आकर जन्म भरके लिये अपना आनन्द खोता है। अबधूत ऐसा न करे, स्पर्श तथा स्त्रीसुखका त्याग करे।

१४. मधुहा— से धनादि संग्रहके त्यागकी शिक्षा पायी अर्थात जो कुछ दैवइच्छासे सामने आजावे उसका भी संग्रह न करे। क्योंकि जैसे मधुहा जब मधु लेकर चलता है तो उससे कोई दूसरा छीनलेता है इसी प्रकार धनके संग्रहकरनेवालेसे उसके सम्बन्धियोंमें कोई दूसरा छीनलेता है अथवा चोर डांकू लूट लेजाते हैं इसलिये संग्रह न करे।

१५. हरिण— से कानोंको सुखदेनेवाले राग तानका त्याग करना सीखा। क्योंकि जैसे बहेलियाके रागोंको सुन हरिण उसके फन्दे फँसजाता है। इसी प्रकार जो रागका विषयी है वह फंसकर मरजाता है। हां भगद्भजनके निमित्त राग तानमें दोष नहीं है।

१६. मत्स्य— से जिह्वा-रसके त्यागनेकी शिक्षा पायी। क्योंकि मछली जिह्वाके रसवश वंसी (लोहका कांटा) के बोरमें जाफंसती

है, कि सिर धुन-धुनकर मरजाती है। इसी प्रकार जिह्वारसवालेको मांसादि भक्षणसे अन्तमें पछताना पडता है। जिसने जिह्वा इन्द्रियको जीता जानो! सब इन्द्रियोंको जीता।

१७. पिंगलावेश्या— से आशाका त्यागदेना सीखा। क्योंकि राजा विदेहके नगरमें एक पिंगलानामकी वेश्या एक रात्रिमें रातभर किसी धनवान्की आशामें जागीरही पर जब कोई धनवान् उसके घर उस रात्रिमें नहीं आया तो सवेरे अपनी आशाको धिक्कार देकर विरक्त होगयी। क्योंकि आशामें रात्रिभरकी निद्रा गँवायी और कुछ हाथ न आया। इसलिये आशा परमदुःखका कारण है इसे त्याग ही देना उचित है। "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताऽशां सुखं सुष्वाप पिंगला" (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ८ श्लो० ४३)

१८. कुररपक्षी— इसके द्वारा लोभके त्यागसे सुखकी प्राप्ति सीखी। जैसे कुरर पक्षी एक दिन आकाशमें उडा हुआ मांसका खण्ड मुखमें लिये जाता था उसे देख अन्य सब पक्षी उससे मांस छीनलेनेके तात्पर्यसे उसे चारों ओर चोंचों से नोंचकर दुःख देने लगे तब उसने उस मांसको छोडदिया सब उसे छोड मांसकी ओर दौडे और कुरर सुख-पूर्वक उडता हुआ अपने निवासस्थानको चलागया। इससे सिद्ध होता है, कि लोभको त्यागना चाहिये विषयका संग्रह किंचिन्मात्र भी नहीं करना चाहिये।

१९. बालक— से सदा परमानन्दमें मग्न रहनेकी शिक्षा पायी। जैसे बालकको मान, अपमान, घरद्वार, बालबच्चोंकी कुछ भी चिन्ता नहीं

होती है बस सदा आनन्दपूर्वक खेल क्रीडामें मग्न रहता है। ऐसे साधु अपने आपमें और हरिकीर्तन इत्यादिमें मग्न रहे किसी प्रकारकी चिन्ता न करे।

२०. कुमारी— से एकाकी रहनेकी शिक्षा पायी। इतिहास यों है, कि एक कुमारी-कन्याको वरनेकेलिये उसके द्वारपर पाहुने आगये उस समय उसके घरके सबलोग किसी कार्य्यसे बाहर चलेगये थे उसने आप ही सब-लोगोंको आसन दे बिठला उनके भोजनके निमित्त धान कूटने लगी तब उसके हाथकी चूडियां खट २ बोलने लगीं उसने विचारा, कि पाहुने मुझे अत्यन्त दरिद्रा समझेंगे इसलिये शब्द न होनेके तात्पर्य्यसे सब चूडियां तोड-डालीं केवल दो रहगयीं फिर भी शब्द होनेलगा तब उसने और एक तोड एक चूडी रहने दी तब सुखपूर्वक धान कूटने लगी। इसी प्रकार योगी एकाकी रहे तब ही सुख पावेगा। दोके रहनेसे भी परस्पर बात-चीतमें समयकी हानि होती है। इसलिये दत्तात्रेय महाराज यदुसे कहते हैं, कि मैंने एकाकी रहनेकी शिक्षा कुमारीसे पायी।

२१. शरकृत् अर्थात् बाणबनानेवाले— से मनकी एकाग्रताकी शिक्षा पायी। दृष्टान्त ऐसे है, कि एक बाण बनानेवाला अपनी दूकानमें हो एकाग्रचित्त बाण बनारहा था उसकी मनोवृत्ति उस बाणमें ऐसी एकाग्र होरही, कि उस मार्ग होकर राजा अपनी सेना और बाजे गाजेके साथ चलागया परे उसने कुछ भी नहीं जाना। इसी प्रकार उपासकको चाहिये, कि भगवत्स्वरूपमें ऐसा एकाग्र हो, कि सम्पूर्ण संसार उसके सम्मुख हँसता रोतारहे पर वह कुछ भी न जाने।

२२. सर्प— से अकेला विचरना और परायेके द्वारपर समय बिता-लेना सीखा। अर्थात् जैसे सर्प अकेला फिरता है और अपना मर्म किसीपर प्रकट नहीं करता जब ठहरना होता है तो चूहोंके बनायेहुए बिलमें जा ठहरता है अपना घर कभी नहीं बनाता। इसी प्रकार अव-धूतको अकेला इस संसारमें विचरना चाहिये और ऐसी गुप्त-रीति और गूढ-युक्तिसे रहना चाहिये, कि कोई उसको न लखे और अपना घर न बनाकर दूसरोंके द्वारपर समय बिता लियाकरे। किसीने कहा है, कि

" जो घर रक्खे है सो घर २ रोवे है।
जो घर खोवे है सो घर में सोवे है॥ "

२३. मकरी— जैसे मकरी आप ही जाल बनाकर अपने जालमें फंसजाती है वैसे अवधूत कुटुम्बियोंके जाल बनाकर आप न फंसे।

२४. भृंगी— से यह शिक्षा पायी, कि मैं भगवत्-स्वरूपमें सारूप्य-मुक्तिको अवश्य लाभ करसकता हूं। जिसे कुम्हरन वा लखेरी भी कहते हैं और जिसे वंगभाषामें काच, पोका कहते हैं। सो किसी अन्य कीट (झींगर) को पकडकर अपने मिट्टीसे रचेहुए घरमें डाललेती है सो वह कीडा मारे भयके उस भृंगीका स्वरूप दिन रात अपने ध्यानमें बनाये रहता है। यहांतक, कि अन्तमें वह कीट भृंगीका स्वरूप बनजाता है। इससे सिद्ध होता है, कि जो उपासक दिन रात अपने उपास्य भगवान्के स्वरू-पमें एकाग्रता प्राप्त करेगा। वह भगवत्-स्वरूप ही होजावेगा।

तात्पर्य्य यह है, कि जो यथार्थ जिज्ञासु है वह दत्तात्रेयके समान सब ठौर सब वस्तुओंसे भगवद्भजनके विषय शिक्षा प्राप्त करता है और उसी

भजनके प्रतापसे पूर्ण ज्ञानको प्राप्तकर परमानन्द लाभ करताहुआ भगवत्-स्वरूपमें जा मिलता है। यहांतक आर्त और जिज्ञासु दो प्रकारके भक्तोंके विषय वर्णन किया अब शेष तीसरे और चौथे अर्थात् अर्थार्थी और ज्ञानी भक्तोंका वर्णन कियाजाता है—

३. अर्थार्थी— इस संसारमें धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादि की चाहनाको लौकिक-अर्थ कहते हैं और मृत्युके पश्चात् स्वर्ग-लोकादि उत्तम लोकोंकी चाहनाको पारलौकिक अर्थ कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी कामनावाले भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं जैसे सुग्रीव जो अपने राज्यके छिनजानेसे अत्यन्त क्लेशित था और केवल अपने राज्य और अपनी स्त्रीकेलिये श्रीरघुवंशमणि कोशल-किशोर श्रीरामचन्द्रजीकी शरण आया था। इस प्रकारकी चाहना लौकिक-अर्थकी चाहना कहलाती है।

इसी प्रकार ध्रुवने भगवदाराधन करके पारलौकिक-अर्थ अर्थात् स्वर्गका द्वार प्राप्त किया है ये दोनों अर्थार्थी भक्त कहेजावेंगे।

ये जो आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीन प्रकारके भक्त कहे गये हैं ये तीनों सकाम हैं। क्योंकि आर्तको दुःख निवारणकी कामना, जिज्ञासुको मोक्षसाधनकी कामना और अर्थार्थीको अपने अर्थ साधनकी कामना बनी रहती है। पर ये तीनों भगवत्की उपासना करते २ उन्नति करसकते हैं। क्यों कि जब आर्तोंके दुःख निवारण होजाते हैं और अर्थार्थियोंके अनेक अर्थ सिद्ध होजाते हैं तब इन दोनोंको ईश्वरकी स्थितिमें पूर्ण विश्वास होजाता है। जब

एवम् प्रकार इन दोनोंके हृदयोंका विश्वास पूर्ण रूपसेदृढ होजाता है। तब ये ईश्वरकी प्राप्तिकी कामना करते हैं अर्थात् जिज्ञासुकी पदवी पर पहुंच जिज्ञासु वा मुमुक्षु कहलाते हैं। इसी प्रकारे जिज्ञासु भी उन्नति करते २ ज्ञानी बनजाते हैं। क्योंकि भगवत्की उपासना करते-करते उन्हें ज्ञान लाभ होजाता है फिर तो क्या कहना है।

ज्ञानी— अब चौथे भक्त जो ज्ञानी कहलाते हैं वे निष्काम रहते हैं। क्योंकि निष्काम कर्म करते-करते जिनका अन्तःकरण शुद्ध होगया है। इसलिये ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके भोगोंको तुच्छ ज्ञान वैराग्य साधन कर अहर्निश भगवतस्वरूपमें ही मग्न रहते हैं इनका एक क्षण भी विना भगवद्भजनके निरर्थक नहीं जाता है ये चारों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठ और भगवत्को अधिक प्यारे होते हैं—
" चहुँ चतुरन कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा " ॥

सो ज्ञान क्या है ? इन ज्ञानियोंमें भी उत्तम, मध्यम इत्यादिके अनेक भेद हैं। सो आगे १३ से १८ अध्याय तक विस्तार पूर्वक वर्णन किये जावेंगे। उसे भगवान् विस्तार पूर्वक इस गीताके अध्याय १३ से १८ तक वर्णन करेंगे।

सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी वह है जिसने भगवत्स्वरूपमें प्रेम लगाया है और प्रेमयोगका अभ्यास किया है। जैसे ब्रजगोपिकाएँ ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कही जाती हैं। इसी प्रकारे सनत्कुमारादि चारों भैया नारद, शुकदेव, प्रल्हाद इत्यादि भगवान्के ज्ञानी-भक्तोंमें शिरोमणि हैं। क्योंकि इन महापुरुषोंने प्रेमपथको रोंद डाला है।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें ज्ञानी च ऐसा कहकर चकारका प्रयोग किया है तिससे भगवान्‌ने स्पष्ट कर जनादिया है, कि पूर्वके तीन प्रकारके जो मेरे भजन करनेवाले हैं उनको तो भिन्न २ कामनाओंके सिद्ध करनेका भी तात्पर्य्य है पर ज्ञानी जो सर्व कामना रहित हैं वे मेरा भजन निष्प्रयोजन होकर करते हैं और केवल मुझहीको चाहते हैं अन्य कुछ भी नहीं चाहते । किसीने कहा है "तुझसे तुझहीको मैं मांगूँ कि, सभी कुछ मिल जाय" सो सवालोंसे यही एक सवाल अच्छा है ❀ ॥ १६ ॥

एवम् प्रकार जो ज्ञानियोंमें भी प्रेमभक्तियुक्त हैं वे श्रेष्ठ हैं इसी विषयको भगवान् आगेके श्लोकमें कहते हैं—

मू०— तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७

पदच्छेदः— तेषाम् (चतुर्विधसुकृतिनां भगवदभिमुखानाम्) नित्ययुक्तः (भगवति वासुदेवे सदा समाहितचित्तः) एकभक्तिः (एकस्मिन् भगवति स्नेहविशेषो यस्य सः) ज्ञानी (विवेकी) विशिष्यते (अधिकतामापद्यते अतिरिच्यते) हि (यस्मात) अहम् (वासुदेवः) ज्ञानिनः, अत्यर्थम् (अतिशयम्) प्रियः (वल्लभः) च (तथा) सः (ज्ञानी) मम प्रियः ॥ १७ ॥

❀ सवाल= फारसी भाषामें किसी प्रकारकी कामनाके विषय कुछ प्रार्थना करनेको कहते हैं — تجھسے تجھ ہی کو میں مانگوں کہ سبھی کچھ ملجاے
سو سوالوں سے یہی ایک سوال اچھا ہے

पदार्थः—(तेषाम्) उन चार प्रकारके पुण्यवान् भक्तोंमें जिनका वर्णन पहले करआये हैं जो प्राणी (नित्ययुक्तः) सदा भगवत्स्वरूपमें समाहितचित्त है और (एकभक्तिः) अन्य सब देवताओंका आश्रय छोड केवल एक वासुदेवहीमें भक्ति रखता है (ज्ञानी) ऐसा जो ज्ञानी है सो (विशिष्यते) अन्य सर्व प्रकारके भक्तों तथा ज्ञानियोंमें विशेष समझाजाता है (हि) इसी कारण (अहम्) मैं वासुदेव सर्वेश्वर (ज्ञानिनः) तिस ज्ञानीका (अत्यर्थम्) अत्यन्त (प्रियः) प्रिय (च) और (सः, मम प्रियः) सो ज्ञानी भक्त भी मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

भावार्थः—अब भगवान् प्रेमभक्तियुक्त ज्ञानीकी श्रेष्ठता दिखलाते हुए कहते हैं, कि ये जो पूर्वके श्लोकमें चार प्रकारके भक्त कहे गये हैं [**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते**] तिनमें जो ज्ञानी आत्मतत्वको जाननेवाला नित्य युक्त है केवल मेरी ही भक्तिमें मग्न है वही श्रेष्ठ समझाजाता है। अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण होनेके कारण चंचलताको त्यागकर सर्व प्रकारके द्वंद्वोंसे रहित होकर केवल एक मुझ भगवत्में चित्तको एकाग्र कररखा है ऐसा नहीं, कि दस दिन तो ज्ञानी बनकर भजन किया फिर चुपचाप मौन साधन कर बैठरहे, भजन ही छोड दिया चार्वाकादि नास्तिकोंके मतमें अथवा वर्त्तमान कालके नवीन कपोलकल्पित मतमें प्रवेश करगये वहां भी कुछ अपना स्वार्थ नहीं देखा तो किसी अन्य मतमें चलेगये। एवम्प्रकार आयुपर्यन्त इधर उधर ज्ञानी बन फिरते रहे, कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं की तो ऐसे अव्यव-

स्थित ज्ञानीको ज्ञानी कहना ही उचित नहीं है न वह यथार्थमें ज्ञानी है क्योंकि वह नित्ययुक्त अर्थात् सदा भगवतमें एक रस नहीं रहा इसलिये जो प्राणी नित्ययुक्त होकर अपने आपमें स्थिर होरहा है, करोडों आपत्तियोंके डुलानेसे भी रंचकमात्र नहीं डोलता जिसकी बुद्धि धृतिगृहीत है जैसा, कि भगवान् पहले आज्ञा देआये हैं, कि "शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ...." (देखो अ० ६ श्लो० २५)

अर्थात् धारणावशीकृत बुद्धिसे आत्मामें धीरे-धीरे रमते रहो। सो जो पुरुष धीरे-धीरे आत्मामें रमण कर आत्मामें ही लय होरहा है, सर्वत्र सब दिशाओंमें आत्मा ही आत्मा देखरहा है और सदा आत्मा ही में जिसकी तृप्ति, रति और सन्तुष्टि है अन्य किसी भी ओर अपने चित्तको नहीं लेजाता सो भगवान् कहते हैं, कि मुझ ही को सर्वभूतान्तरात्मा जानकर मेरे स्वरूपमें नित्य युक्त है, सदा मनोयोग देरखा है तथा जो (एकभक्तिः) केवल मुझहीमें भक्ति रखता है अन्य किसी, देवता देवीका आश्रय नहीं करेता। जैसे पतिव्रता स्त्री केवल अपने स्वामी ही को पुरुष-रूप देखती है। इसी प्रकार जो ज्ञानी केवल मुझ वासुदेवहीको अपना स्वामी जानकरमेरे ही स्वरूपमें मग्न रहता है वही सब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है उसीको विशेषरूपसे मेरा यथार्थ भक्त जानना चाहिये। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम् सच मामप्रिय] ऐसे ज्ञानीका तो मैं अत्यन्त प्रिय हूं और ऐसा ज्ञानी भी मेरा अत्यन्त प्यारा है। अर्थात् ऐसा ज्ञानी पुत्रसे, स्त्रीसे तथा अन्य सम्बन्धियोंसे बढकर मुझको

ही अपना प्रिय जानता है उसका श्रेष्ठ प्रेमी मैं ही हूं। क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्का आत्मा हूं और आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय होता है यह बात प्रसिद्ध है। सभी जानते हैं, कि मांगनेवालेको प्राणी सब देसकता है पर आत्माको नहीं देसकता। आत्माहीके प्रिय होनेसे सब प्रिय देख पडता है। तहां बृहदारण्यकी श्रुति यों कहती है—

" न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवति " (बृ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति ६)

अर्थ— देवताओंकी कामनासे देवता प्रिय नहीं होते केवल अपनी आत्माकी कामनासे अर्थात् अपने आत्माके सुखके लिये देवता प्रिय होते हैं। इसी प्रकार जितनी प्रिय वस्तु पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादि हैं वे सब उन वस्तुओंके लिये प्रिय नहीं हैं केवल अपने आत्माके लिये अर्थात् अपने सुखके लिये प्रिय हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह अपना आत्मा सबसे अधिक प्रिय है सो आत्मा वही वासुदेव है इसलिये ज्ञानियोंको उस वासुदेवसे इतर अन्य कुछ प्रिय नहीं। इसी कारण वे ज्ञानी केवल एक वासुदेव ही में प्रीति और भक्ति करते हैं। अतएव वे एकभक्त कहेजाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानीको मैं अत्यन्त (अतिशय) प्रिय हूं। फिर यह तो स्वाभाविक ही है, कि जब एकका स्नेह किसी दूसरें से होगा तो वह दूसरा भी अवश्य उससे स्नेह करेहीगा क्योंकि एक हृदयको दूसरे हृदयसे सूत्र लगाहुआ है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जैसे ज्ञानियोंको मैं प्रिय हूं इसी प्रकार (स च मम प्रियः)

वह भी मेरा प्रिय है अर्थात् जितना स्नेह वह मुझसे करता है मैं भी उससे उतना ही करता हूं। इसीलिये मेरी प्रतिज्ञा है, कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (अध्याय ४ श्लो० ११) जो मुझमें जैसे जितने प्रेमसे आ प्राप्त होते हैं मैं भी उनको उसी भाव से स्मरण करता हूं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन ! आपके मुखारविन्दसे जो यह शब्द निकला, कि ज्ञानी मुझको प्रिय है इससे मुझ अल्प-बुद्धिको ऐसा बोध होता है, कि अन्य जो द्रौपदी, गज, सुग्रीव, विभीषण, ध्रुव इत्यादि भक्त हुए हैं जिनकी गणना आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुओंमें है वे आपको प्रिय नहीं हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मु०— उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— एते (आर्तादयः) सर्वे, उदाराः (उत्कृष्टाः। महान्तः। ऋज्वाशयाः। शिष्टाः) एव, ज्ञानी (वासुदेवः सर्वमित्येवं दृढप्रतिपत्तिपवित्रीकृतहृदयः) तु, आत्मा, एव [इति] मे, मतम् (निश्चितम्) हि (यस्मात्) सः, युक्तात्मा (समाहितचित्तः) अनुत्तमाम् (सर्वोत्कृष्टाम्) गतिम् (गन्तव्यम्) माम् (वासुदेवम्) एव (निश्चयेन) आस्थितः (अंगीकृतवान) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (एते) ये जो आर्तादि मेरे भक्त हैं (सर्वे) सब (उदाराः, एव) उत्तम और श्रेष्ठ हैं इसमें सन्देह नहीं पर (ज्ञानी) वह ज्ञानवान् जो सर्वत्र मुझ वासुदेवको जानकर मुझमें सदा रमरहा है (तु) सो तो मेरा (आत्मा) आत्मा है अर्थात् स्वयम् मैं ही हूं (मे, मतम्) ऐसा ही मुझको निश्चय है (हि) क्योंकि (सः, युक्तात्मा) वह समाहितचित्त एकाग्रवृत्तिवाला ज्ञानी (अनुत्तमाम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (गतिम्) गति (मामेव) मुझहीमें अर्थात् मेरे ही स्वरूपमें (आस्थितः) सदा स्थित है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि क्या चार प्रकारके भक्तोंमें केवल ज्ञानी ही तुमको प्रिय है और शेष तीन प्रिय नहीं हैं ? इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैवमेमतम्] ये सब मेरे भक्त उदार हैं पर ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है ऐसा ही मैं मानता हूं । क्योंकि ये सब ऋज्वाशय हैं अर्थात् इनका आशय सरल है इनमें किसी प्रकारका छल, कपट, प्रपंच, नहीं है तथा इनमें कोई कृपण-बुद्धि नहीं है । यदि शंका हो, कि भगवान् पहले कह आये हैं, कि " कृपणाः फलहेतवः " फलकी इच्छा करनी ही कृपणता है और ये प्रथमके तीन भक्त सकाम हैं फलकी इच्छा करते हैं इसलिये इनको कृपण कहना चाहिये । फिर इनको भगवान्ने उदार क्यों कहा ? तो उत्तर इसका यह है, कि इसमें सन्देह नहीं, कि ये तीनों फलकी इच्छा करते हैं पर पूर्वमें जो भगवान् कृपण कह आये हैं इसका तात्पर्य्य यह है, कि बहुतेरे कामना वाले केवल अपनी कामनाके ही तात्प-

र्यसे बहुतेरे देवताओंकी उपासना करने लगजाते हैं और जब उनकी कामनाकी पूर्ति होजाती है तो फिर वह उस देव देवीका स्मरण कभीभी नहीं करते । जैसे जब किसी ग्राममें वा नगरमें महामारी, विशूचिकादि रोगोंकी उत्पत्ति होती है और सब छोटे बड़े मृत्युको प्राप्त होते चलेजाते हैं तो केवल अपने वा अपने सम्बन्धियोंके प्राणके भयसे वहांके सर्व साधारण देवोंके मन्दिरोंमें तथा गह्वरोंमें जाकर भेटें चढाते हैं, पक्वान्नोंको लेजाकर भोग लगाते हैं और बकरोंका बलिदान करते हैं जबतक महामारीकी धूम रहती है तबतक देवीको इतना भोजन कराते हैं, कि देवी भोजन करते २ और बकरोंको खाते २ नाकों दम होजाती है पर जबसे महामारी रुकजाती है तबसे बरसों देवीजी बिना भोग रागके ग्रामकी एक ओर एक टूटी फूटी झोंपडीमें भूखी पडी रहती है न कोई पक्वान्न लेजाता है, न बकरे चढाता है । देवीके आगे सुन-सान पडा रहता है । क्योंकि इन मूर्ख सर्वसाधारण प्राणियोंको केवल अपनी मनःकामनासे ही तात्पर्य्य था देवीसे तो रञ्चक-मात्र भी स्नेह नहीं था। ऐसे ही पुरुषोंको कृपण कहते हैं भगवानने भी ऐसे ही पुरुषोंको कृपण कहा है । पर जो लोग ऐसे हैं, कि पूर्व-जन्मकी सुकृतियोंके कारण जिनकी बुद्धिका संयोग भगवद्भक्तिकी ओर तो है पर प्रारब्धानुसार गृहस्थाश्रमादिमें रहनेसे नाना प्रकारकी कामनाएँ भी मध्य२ में बाधा करती हैं तो उनको उन कामनाओंकी पूर्ति निमित्त भगवानकी प्रार्थना करनी पडती है। तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी जो भगवत्को भी चाहते हैं और कुछ फल भी चाहते हैं उदार कहे-जाते हैं। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि फलको पाकर भगवत्को नहीं चाहने

वाले कृपण हैं और जो फलको तथा भगवत्को दोनोंके चाहनेवाले हैं उदार हैं एवम महान हैं इसीलिये उनका आशय सरल है।

अब विचारकी दृष्टि द्वारा देखनेसे ऐसा अनुमान होता है, कि इस संसारमें ५ प्रकारके मनुष्य हैं—

१. फलको केवल आपत्तिके समय अर्थात् अपने प्रयोजनके समय देवताका पूजन करनेवाले।

२. जो फलके भी चाहनेवाले हैं और इन्द्र, वरुण, कुवेर, दुर्गा, सरस्वती इत्यादि देव देवीके चाहने वाले अर्थात इनकी भक्ति भी करने वाले हैं।

३. जो अपनी कामनाओंको केवल भगवानसे चाहने वाले हैं पर कामनाकी पूर्तिके पश्चात् भगवानको भूल जाने वाले हैं।

४. जो अपने फलको भी चाहने वाले हैं और भगवत्स्वरूपके भी चाहनेवाले हैं।

५. जो केवल भगवतके चाहने वाले हैं ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त किसी भी फलको नहीं चाहते। येही यथार्थ ज्ञानी कहे जाते हैं।

इनमें प्रथम जो आपत्तियोंके समय केवल फलोंके चाहनेवाले हैं और देवता देवीसे कोई तात्पर्य्य नहीं रखते वे कृपण हैं। उनहीके विषय भगवानने "कृपणाः फलहेतवः" ऐसा वचन उच्चारण किया।

इनमें उदार वे हैं जो फलके और देवता देवीके भी चाहने वाले हैं।

इनसे अधिक उदार वे हैं जो फलको केवल भगवत्से चाहने वाले हैं अन्य किसी देवता देवीसे नहीं ।

इनसे भी अधिक उदार वे हैं जो फल और भगवत् दोनोंके चाहने वाले हैं ।

इन सबोंसे उदार अर्थात् महान वे हैं जो केवल भगवत्के चाहने वाले हैं ।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ये सब मेरे भक्त उदार हैं पर इनमें (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्) जो ज्ञानी है वह मेरा आत्मा ही है ऐसा मुझे निश्चय है । क्योंकि वह मुझे छोड अन्य किसी प्रकारका फल नहीं चाहता । कारण इसका यह है, कि फलचाहने वालेको तो मैं फल देकर उससे उऋण हो जाता हूँ पर जो मुझसे कुछ नहीं चाहता उसका मैं सदा ऋणी बना रहता हूं और इसी कारण मैं स्वयं उसको अपना स्वरूप ही बनालेता हूं ।

भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि वह तो मेरा आत्मा ही होजाता है । जैसे कीट भृंगीका ध्यान करते-करते भृंगी बनजाता है । ऐसे मनुष्य भगवत्का ध्यान करते-करते भगवत्-स्वरूप ही बनजाता है फिर इससे अधिक क्या कहिये ?

अब भगवान् आधे श्लोकमें कहते हैं, कि [**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्**] सो जो युक्तात्मा अर्थात् केवल मेरे स्वरूपमें समाहितचित्त होकर लौ लगाये हुआ है और केवल मेरे ही स्वरूपमें स्थिर रहता है वही युक्तात्मा कहलाता है सो जो ज्ञानी युक्तात्मा है सो निःसन्देह सब गतियोंमें उत्तम गति जो

में अर्थात् मेरा स्वरूप उसीमें जा स्थिर होता है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ जो मेरा स्वरूप सो ही जिसको अंगीकृत है ।

अनेक जन्मोंके उत्तम संस्कार जब एकत्र होते हैं तब सबसे श्रेष्ठ गति जो मैं सो तिस पुरुषको प्राप्त होता हूं । क्योंकि भिन्न २ देवताओंकी उपासना करने वाले उन देवताओंके लोकको प्राप्त होते हैं पर उनके लोकोंको प्राप्त होना उत्तम गति नहीं है । क्योंकि उन लोकोंमें प्राप्त होकर पुण्यके छीज जाने परे फिर उनको संसारमें लौटना पडता है पर मेरे धामके प्राप्त होनेवाले लौटते नहीं " यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमम् मम " जहां जाकर फिर उलटा लौटना नहीं होता अर्थात् फिर संसार-वंधनमें आना नहीं होता सो मेरा ही परम धाम है इसी कारण मेरे स्वरूपको प्राप्त होना अत्यन्त उत्तम और श्रेष्ठ गति है ।

दूसरा कारण यह है, कि अन्य सब देवता देवी महाप्रलयमें नष्ट होजाते हैं । महाप्रभु वासुदेव सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द आनन्दघन सदा एक रस रहने वाला है इसलिये उसके स्वरूपको प्राप्त होना सबोंसे श्रेष्ठ गति है तहां श्रुति कहती है " घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः " (श्वेताश्व० अ० ४ श्रुति १६)

यहां यह श्रुति उत्तम गतिके अतिशय आनन्दको जनाती हुई कहती है, कि घृतके ऊपर जो विद्यमान सारांश है उसे मण्ड कहते हैं । जैसे रसका अत्यन्त रस है इसी प्रकार सो महेश्वर मुमुक्षुओंका तथा ज्ञानियोंका अत्यन्त सार विषय है इसी कारण अत्यन्त प्रीतिका विषय

है। जैसे वह घृतका सार अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी प्रकार उस महेश्वर वासुदेवके स्वरूपका आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म है और सो ही सर्व्वभूतमात्रमें अत्यन्त गूढ भी है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्य्यन्त सबोंके कर्म-फलभोगका साक्षीरूप होनेसे वह अत्यन्त गूढ कहाजाता है, सम्पूर्ण विश्वमात्रका वह एक ही परिवेष्टन करनेवाला है अर्थात् सबको घेरे-हुए है ऐसे परम देवको प्राणी जानकर सर्वप्रकारके बन्धनोंसे छूटजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि सो युक्तात्मा ज्ञानी सबसे उत्तम गति जो मैं तिसे प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ऐसे ज्ञानी पुरुष जो सबोंसे श्रेष्ठ हैं इस संसार में सब ठौर मिलते हैं या नहीं ? अर्थात् उनका दर्शन सर्वसाधारण पुरुषोंको होता है वा नहीं ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन—

मू०—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९ ॥

पदच्छेदः— वासुदेवः (विश्वम्भरः) सर्वम् (ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तम्) इति, ज्ञानवान् (विवेकपूर्वकभगवच्चरणानुरागी । प्राप्तपरिपक्वज्ञानः) [यः] बहूनाम् , जन्मनाम् , अन्ते (चरमे जन्मनि) माम् (वासुदेवम्) प्रपद्यते (सम्यग्दर्शनेन प्रत्यक्षी-करोति) सः, महात्मा (महिमावान् । सर्वोत्कृष्टमात्मशब्दितं वैभव-मस्येति) सुदुर्लभः (अतिदुष्प्राप्यः)॥ १९ ॥

पदार्थः— (वासुदेवः) सम्पूर्ण विश्वमात्रका देव जो महेश्वर सो ही (सर्वम्) सब है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने पदार्थ हैं सब उसीके स्वरूप हैं तथा सब वही है (इति) इस प्रकार (ज्ञानवान्) जाननेवाला ज्ञानी जो (बहूनाम्) अनेक (जन्मनाम्) जन्मोंके (अन्ते) अन्तमें (माम्) मुझ वासुदेव को (प्रपद्यते) प्राप्त होता है (सः, महात्मा) सो ऐसा महात्मा (सुदुर्लभः) बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य है अर्थात् उसका दर्शन बहुत क्लेश करनेसे मिलता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब भगवान अर्जुनके प्रति उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते] अनेक जन्मोंके अन्तमें अर्थात् शुभाशुभ-कर्मानुसार बार-बारे भिन्न-भिन्न योनियोंमें नाना प्रकारके दुःख और सुख पाताहुआ कूपघटिका-यन्त्रके समान भ्रमता हुआ जब किसी जन्ममें किसी प्रबल पुण्यकी प्रेरणासे मनुष्य शरीरको पाता है और कईबार मनुष्य शरीरको भी प्राप्त कर स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको भोगताहुआ लौटकर किसी धनवान् वा योगीके कुलमें जन्म लेकर किसी महान् गुरुकी कृपासे ज्ञानका लाभ कर भगवत्प्राप्तिका कोई सरल उपाय साधन करे भगवत्-स्वरूपको सर्वत्र देखता है और एक सुईके अग्रभागके बराबर भी कोई स्थान भगवत्से शून्य नहीं देखता तब जानो, कि यह उसका अन्तिम जन्म है। इसी अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान पुरुष मुझको प्राप्त होजाता है तब इसे फिर मनुष्य-जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह तो कीटभृंगीके न्यायसे ब्रह्मस्वरूप ही होजाता है। अर्थात् संसारी जितने आनन्द हैं

और विषयके जितने भोग हैं सबको तुच्छ जानता है । जैसे पथिक मार्ग चलताहुआ कच्चर पच्चरोंको अर्थात् मैले कुचैले चिथडोंको पांवसे मारकर हटा देता है। इसी प्रकार विषय भोगोंको जो शरीर-यात्रावाला ज्ञानवान् पथिक तुच्छ जान पैरोंसे मार अलग हटा केवल मेरेको लक्ष्य कियेहुए शरीरयात्राको समाप्त करता है और जब तक उसकी शरीरयात्रा प्रारब्धानुसार बनी रहती है तबतक [वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः] वासुदेव ही ये सब हैं ऐसा जो जानता है सो महात्मा दुर्लभ है। क्योंकि वह दिव्यचक्षुसे सर्वत्र वासुदेव ही को देखता है। ऊपर, नीचे, दायें, बायें जिधर दृष्टि जाती है सर्वत्र वासुदेव ही वासुदेव देखता है प्रत्येक डालमें, पातमें, फलमें, फूलमें, हलमें, मूसलमें, ऊखलमें, छडीमें, सूईमें, अन्न पानीमें, द्वारमें, आंगनमें, घरोंकी दीवारमें जहां देखो तहां ब्रह्महीको देखता है और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इन श्रुतियोंके वचनानुसार सर्वत्र ब्रह्म ही को जानता है—

श्रुतिः— "पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य"
(मुण्ड० २ खण्ड १ श्रु० १०)

अर्थ— यह सम्पूर्ण विश्वमात्र ब्रह्म है और जो वस्तु भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारीजाती हैं ये सब केवल वाचारंभणविकारमात्र हैं यथार्थमें सब ब्रह्म ही है नाना प्रकारके अग्निहोत्रादि कर्म तथा मौन, कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि तप सब ब्रह्मके ही कार्य हैं। इसलिये सब ब्रह्म ही है। सो कैसा है? कि "परामृतम्" परमअमृतस्वरूप है

जिसके स्पर्शसे फिर प्राणी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अमर होजाता है । क्योंकि ब्रह्म स्वयम् अमृतस्वरूप है अतः ब्रह्मस्वरूप होनेसे वह प्राणी भी अमृतस्वरूप होजाता है इसीलिये श्रुति कहती है, कि "निहितं गुहायाम्" यह ब्रह्म सबोंके हृदयमें निवास करनेवाला है "एतद्यो वेद" इसको जो जानता है सो प्राणी अवश्य अविद्याकी गांठको नाश करके मायासे तरजाता है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि "स महात्मा सुदुर्लभः" ऐसा महात्मा जो सबको ब्रह्मस्वरूप ही देखता है दुर्लभ है बडे कष्टसे प्राप्त होने योग्य है । यों तो वेषमात्र बडी-बडी जटाओंको बढाये अथवा केवल संसारको ठगनेके लिये मूंडको मुडाये सहस्रों साधु फिराकरते हैं और वचनसे लोगोंको अपने वशीभूत करलेते हैं पर यथार्थमें उनके भीतर टटोला जाय तो सार कुछ नहीं ऐसे महात्मा अत्यन्त सुलभ हैं ।

पर जिन्होंने संसारके विषय-भोगोंको लात मारा है ऐसे तो बडे कष्टसे कहीं २ किसी निर्जनस्थानमें पायेजाते हैं अथवा किसी नगर और ग्राममें भी देखे जाते हैं तो वह संसारी-जीवोंके संगसे बचनेकेलिये तथा इस तात्पर्य्यसे, कि विषयी जीव नाना प्रकारके विषयकी वस्तुओंके मांगनेके लिये न सतावें तथा विषय वार्तामें न फँसावें किसी प्रकारकी माया बना अपने आपको पागलोंके समान बना रखते हैं । अथवा सहस्र संसारीके समान अपनेको बना रखते हैं जिससे साधारण व्यक्ति उनको भी अपने समान संसारी समझें और उनसे अधिक लिपटकर

उनका समय न नष्ट करें । जैसे राजा जनक जो यथार्थमें सच्चे महात्मा थे अपनेको राजकाजमें ऐसा गुप्त रखा था, कि शुकदेव ऐसे महात्माको उनका व्यवहार देखकर भ्रम होगया यद्यपि व्यासदेवने चलनेके समय शुकको समझादिया था, कि जनक बहुत बडा महात्मा है, विदेही है, तुम वहां सत्संगके लिये जाओ! यथार्थतत्त्वका बोध उसके द्वारा तुमको प्राप्त होगा। तथापि जब शुकदेव जनकपुरीमें पहुंचे तो जनकके व्यवहारोंको देख उनके चित्तमें अरुचि होगयी क्यों कि उनके राज्यमें सैकडोंको कारागारमें फँसेहुए तथा अन्य नाना प्रकारके दण्ड इत्यादि पातेहुए देखकर घृणा होगयी, कि जिस राजाने ऐसे जीवोंको नाना प्रकारके क्लेशोंसे क्लेशित कर रखा है वह भला कब महात्मा होसकता है परे जब कुछ काल नारदके समझानेसे जनकको महात्माकी दृष्टिसे देखा तब शुकदेवको ऐसा बोध हुआ, कि जनक एक वारगी निःसंग है। इसको तो इन व्यवहारोंसे कोई तात्पर्य्य हीं नहीं है यह तो राजकाजसे एक वारगी निर्लेप है, यह तो यथार्थ महात्मा है यह शुक और जनकका इतिहास प्रसिद्ध है इसलिये यहां संक्षिप्त वर्णन किया।

इसी प्रकार बहुतेरे महात्मा जो यथार्थरूपसे ब्रह्मवेत्ता हैं उनकी पहचान करनी कठिन है क्योंकि वे नाना प्रकारकी माया फैलाकर अपनेको गुप्त रखते हैं। देखो! स्वयं श्यामसुन्दर आनन्दकन्द जो साक्षात् अवतार हैं ग्वालिनियोंके संग रासक्रीडाएँ तथा ग्वालबालोंके संग बछडे इत्यादिके चरानेमें अपनेको ऐसा गुप्त रखा, कि ब्रह्माको भी उनके कार्य्योंको देख उनके महत्त्वमें भ्रम उत्पन्न हुआ।

जिस कारण बछडोंको चुराकर पर्वतकी गुफामें रख आये पीछे महत्त्वको जानने पर लज्जित हो चरणोंपर आगिरे यह लीला सबोंपरे प्रकट है। इसी प्रकार नारदको भी भगवत्-लीला देखकर जब मोह प्राप्त हुआ फिर १६१०८ रानियोंके घरमें १६१०८ कृष्णको उसी रूप गुणसे नाना प्रकारके गृहकार्य्योंको तथा भिन्न व्यवहारोंको करतेहुए देखकर लज्जित हुए और उनका मोह नाश होगया। तात्पर्य्य यह है, कि जैसे भगवान् स्वयं गुप्तरूपसे प्रकट होकर अपनी महिमाको छिपा प्रत्यक्ष देखनेमें साधारण विषयी मनुष्योंके समान कार्य्यकर लोगोंको भ्रममें भुलादेते हैं इसी प्रकारे जो महात्मा साक्षात् भगवत्स्वरूप ही हैं वे भी प्रत्यक्ष देखतेहुए मायाके व्यवहारोंमें मायाग्रस्त साधारण जीवोंके समान ब्यवहार करते देखेजाते हैं। पर यथार्थमें वे सबसे निर्लेप हैं किसीमें लिप्त नहीं क्योंकि वे तो सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। जैसा, कि भगवान् ऐसे महात्माओंके विषय कह आये हैं, कि "नैव किंचित करोमीति युक्तं मन्येत···" ऐसा महात्मा जो तत्त्ववित् है यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है वह कुछ देखना, सुनना, छूना, सूंघना, खाना, चलना, सोना इत्यादि कर्मोंको करता हुआ भी ऐसा जानता है, कि मैं कुछ नहीं करता। अर्थात् महात्मा पुरुष सब कर्मोंको करते हुए भी कर्तृत्त्वभिमानसे रहित होनेके कारण किसी कर्ममें लिप्त नहीं होते जिनका प्राप्त होना साधारण ज्ञानियोंको कठिन है ॥ १९ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी कि भगवन्! जब यह सिद्धान्त है जो महात्मा "वासुदेवं सर्वमिति" जानता है वही सबोंमें श्रेष्ठ

और दुर्लभ है तो ऐसा जानकर भी बहुतेरे प्राणी अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०

पदच्छेदः— तैः तैः कामैः (पुत्रपशुस्वर्गकीर्तिशत्रुजयमोहनस्तम्भनाकर्षणवशीकरणमारणोच्चाटनाद्यभिलाषैः) हृतज्ञानाः (दूरीकृतं ज्ञानं येषान्ते) स्वया (स्वकीयया) प्रकृत्या (जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण) नियताः (नियमिताः) तं तं नियमम् (चतुर्दश्युपवासजपप्रदक्षिणानमस्करादिरूपम्) आस्थाय (आश्रित्य। स्वीकृत्य) अन्यदेवताः (इन्द्रवरुणयमकुवेरादीन्) प्रपद्यन्ते (भजन्ते)॥ २०॥

पदार्थः— (तैः तैः कामैः) पुत्र, पशु, स्वर्गादिकी कामनाओंसे (हृतज्ञानाः) जिनका ज्ञान नष्ट होगया है वे (स्वया प्रकृत्या) पूर्वजन्मोंमें उपार्जन किये हुए अपने विशेष संस्कार अर्थात् स्वभावके अनुसार (नियताः) जो नियत किये हुए नियम हैं (तं तं नियमम्) उनही उपवास, जप इत्यादि नियमोंको (आस्थाय) स्वीकार करके (अन्य देवताः) इन्द्र, वरुण, कुवेरादि देवताओंकी (प्रपद्यन्ते) भजते हैं॥ २०॥

भावार्थः— हे भगवन् ! जब आपहीके भजनसे मनुष्योंको श्रेष्ठता प्राप्त होती है तो आपको छोड बहुतेरे प्राणी अन्य देवताओंका भजन क्यों करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः] अनेक जन्मोंमें जो प्राणीने बहुतसी कामनाओंको अन्तःकरणमें रखकर शरीर छोडा है जिनकी पूर्ति अभी तक नहीं हुई है तिन २ कामनाओंसे जिनका ज्ञान नष्ट होगया है अर्थात् बार २ मनुष्य-जन्म लेकर पुत्र, कलत्र, घोडे, हाथी तथा स्वर्ग कीर्ति, शत्रुको जय करनेकी कामना फिर मोहन, स्तंभन, आकर्षण वशीकरण, मारण, उच्चाटनादि प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले ज्ञानसे रहित होजाते हैं । क्योंकि जब इन तुच्छ पदार्थोंकी इच्छा उनके हृदयमें उपजती है तो जबतक इनकी पूर्ति न हो तबतक इनकी दशा पागलोंके समान बनी रहती है फिर तो जहाँ किसीने कहदिया वहाँ ही पहुँचते हैं नाना प्रकारके छोटे २ देवताओंकी उपासना करते २ अपने प्रयोजन भरे हुए भूत, प्रेत, पिशाच तककी पूजा करने लग जाते हैं । शेख सद्दो (شیخ سدو) गोगापीर (گوگا پیر) बूढे बाबूकी समाधि तथा लोना चिमारीकी पिण्डी बना अपने २ घरोंमें पूजते हैं। तिनके प्रसन्न करनेके लिये तिनके सम्मुख नाना प्रकारके जीवोंकी हिंसा करते हैं। बकरे मारते हैं मुर्गीके अण्डे चढाते हैं। बहुतेरे ज्ञान-रहित मूर्ख अपना शरीर चीरकर रुधिर निकाल इन देवताओंको तथा भूत प्रेतोंको चढाते हैं । बहुतेरे प्राणी भैंसे काटा करते हैं । तात्पर्य्य यह है, कि स्वार्थ साधन निमित्त अत्यन्त क्षुद्र २ देवता, देवी, प्रेत, पिशाच तथा यवनजातिकी समाधियोंके आगे दूध मलीदे चढाते हैं—

और मन माना आचरण करते हैं । बहुतेरे मरे हुए ब्रह्मपिशाचोंको भी पूजते हैं और उनसे अपनी मनःकामना मांगते हैं । फिर अन्धेर तो यह है, कि इनके साथ इनके आचार्य्य भी रहते हैं जो इनसे ऐसे २ आचारण करवा करके कटे हुए सिरके साथ कुछ पैसे भी दक्षिणा लेकर घरे जाते हैं फिर ये जितने हैं सब अपनेको धन्य २ मानते हैं पर " अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः " इस श्रुतिके वचनानुसार अन्धों को जैसे अन्धा मार्ग दिखलाता हुआ लेजाता है और दोनोंको मार्गका ज्ञान न होनेके कारण दुःखका अनुभव होता है। इसी प्रकार ये भी गुरु शिष्य दोनों अंधकूपमें गिरते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनाथ स्वयं ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द आनन्दकन्दसे एक बारगी विमुख रेहते हैं।

इसी कारण कृष्णचन्द्रने इस श्लोकमें उनको " हृतज्ञानाः " कहा है क्योंकि यथार्थमें स्वार्थ-वश होनेके कारण इनका ज्ञान भ्रष्ट रहता है। इसके विषय श्रुतिका भी प्रमाण यों है, कि " अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः " (मु० १ खं २ श्रु० ६ में देखो) अर्थात् " बालाः " जो अज्ञानी जीव हैं वे अविद्याके कार्य्योंमें रत रहकर अर्थात बहुतसे बाजे गाजेके साथ खेलते, कूदते, उछलते बकरोंको क्षुद्र देवता देवियोंके सम्मुख तथा भूत प्रेतके सम्मुख मारतेहुए बडे आनन्दसे अपनेको धन्य २ मानते हैं वे यह नहीं समझते, कि यह अविद्या उनको पहले ऊँचे चढाकर फिर नीचे स्थानमें गिरावेगी । क्योंकि वे स्वार्थवश यथार्थ-भगवद्भजनसे विमुख हैं।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया] अपनी प्रकृतिके अनुसार तिन-तिन साधनोंके कियेहुये नियमोंका पालन करतेहुए अर्थात् कभी उपवास करतेहुए, कभी जप करतेहुए, कभी कटिपर्यन्त पानीमें दिन-दिन भर खडे होतेहुए, कभी जिह्वामें सूईसे छिद्रकर मन्त्रोंका जप करतेहुए, कभी मृतकके कपाल में पानी भरकर उससे स्नान, पान इत्यादि करतेहुए पूर्वजन्मार्जित-संस्कारके अनुसार ऐसा समझते हैं, कि मानों अपने देव, देवियोंको प्रसन्न करलिया। एवम्प्रकार "प्रकृत्या नियताः स्वया" अपनी प्रकृतिके नियमित नियमोंसे बंधेहुए रहते हैं अर्थात अपनी प्रकृतिके अनुसार नियत कियेहुए तिन २ साधनोंके नियमोंमें दृढ रहकर भिन्न २ देवताओंकी उपासना करते हैं।

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि ऐसे अज्ञानी जीवोंको कितना भी समझाया जावे, कि तुमतो बहुत दिनोंसे क्षुद्र देवता देवियोंकी पूजा, स्तुति, उपासना करचुके और उनसे अपनी मनःकामनाओंकी सिद्धि करचुके अब तुम वृद्ध हुए अब तो इन विषयवासनाओंको त्याग, केवल भगवत्स्वरूपकी चाहनासे भगवत् शरण आओ! पर वे तो अपने जन्मान्तरके स्वभावसे बद्ध हैं इसलिये किसीकी एक भी नहीं मानते और भूत, प्रेत, पिशाचादिकी पूजा नहीं छोडते।

प्रिय पाठको! यह एक उदाहरण जो इन दिनों प्रत्यक्ष है सबोंके देखनेमें आता है क्या ऐसे मूर्ख बूढेको एक वारगी अज्ञानी "हृतज्ञानाः" और "प्रकृत्या नियताः स्वया" अपनी पूर्व

जन्मार्जित प्रकृतिसे बद्ध नहीं कहेंगे ? अवश्य कहेंगे ! इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ऐसे हतज्ञान मूर्ख [प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः] भगवत्-शरण छोड अन्य देवताओंकी शरण जा अपनी मन:कामना सिद्ध करते हैं।

इसी कारण ये लोग कृपण कहलाते हैं उदार नहीं हैं । क्योंकि " कृपणाः फलहेतवः " इस भगवद्वचनके अनुसार फलके चाहने वाले सब कृपण हैं और पागलोंके समान आचरण करनेवाले हैं क्योंकि ऐसी कामनावाले रात दिन स्वार्थवश केवल कामनाके साधनमें लगे हैं वे राजा हों, महाराजा हों, चक्रवर्त्ती क्यों न हों, सहस्रों लक्षोंके दान देनेवाले क्यों न हों पर जब उनके हृदयमें केवल कामना निवास कररही है और कामना ही करके भिन्न देवताओंका आराधन करते हैं तो जानना चाहिये, कि वे प्रथम श्रेणीके कृपण हैं और हतज्ञान अर्थात् ज्ञानरहित हैं।

प्रिय पाठको ! मार्गमें जितने प्राणी नीचे मस्तक झुकाये चलते दीखते हैं इन सौमें निन्यानवें (९९) को हतज्ञान और पागल समझना चाहिये । बहुतेरे तो आपही आप बातें करते कुछ बोलते, गर्दन हिलाते, हां ना करते, हाथोंको ऊपर नीचे डुलाते ऐसे पागलके समान देखेजाते हैं मानों किसीसे बातें कररहे हैं ऐसे ही प्राणी जन्मान्तरके स्वभावसे बद्ध हतज्ञान कहे जाते हैं ।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुनने जो प्रश्न किया था, कि क्या कारण है ? कि तुमको छोड प्राणी अन्य २ देव-

ताओंकी उपासना करते हैं उसका उत्तर भगवान्‌ने यों देदिया, कि जन्मान्तरके कर्मोंसे बद्ध उनका स्वभाव ही पडजाता है, कि भगवद्भजनसे विमुख हो केवल स्वार्थसाधनके तात्पर्य्यसे किसी किसी देवताकी उपासना करते हैं ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो लोग ऐसे पामर हैं, कि आपको छोड पूर्वजन्मार्जित स्वभावसे बद्ध होकर अन्य देवता और भूत पिशाचादिकी पूजा करते हैं उनपर भी कभी आपकी कृपा होगी वा नहीं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
॥ २१ ॥

पदच्छेदः— यः, यः, भक्तः (भक्त्या संयुक्तः । उपासकः) यां, यां, तनुम् (देवतामूर्त्तिम् । यक्षरक्षोरूपम्) श्रद्धया (जन्मान्तरसंस्कारवलप्रादुर्भूतया भक्त्या) अर्चितुम् (पूजयितुम) इच्छति (प्रवर्त्तते) तस्य, तस्य (कामिनः) ताम् (देवतातनुंप्रति) एव (निश्चयेन) अचलाम् (दृढाम) श्रद्धाम् (पूर्ववासनावशात् प्राप्ताम) अहम (अन्तर्यामी) विदधामि (स्थिरीकरोमि) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (यः, यः, भक्तः) जो-जो भक्त (यां, यां, तनुम्) जिस-जिस देवताकी मूर्तिको (श्रद्धया) पूर्ण भक्तिसे

(अर्चितुमेव) पूजन करनेकी (इच्छति) इच्छा करता है (तस्य) तस्य) तिस-तिस पुरुषकी (ताम्) तिसी देवतामें (अचलाम्) अत्यन्त दृढ (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (अहम्) मैं जो अन्तर्यामी हूं (विदधामि) स्थिर करदेता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि अन्य देवता वा यक्ष राक्षस पूजनेवालोंपर भी हे भगवन् ! आप कृपा करते हैं वा नहीं ? तिसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति] जो—जो भक्त जिस—जिस मूर्तिको श्रद्धासे पूजना चाहता है वे तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी रूपसे तीन प्रकारके हैं अर्थात् तमोगुणी वे हैं जो यक्ष, राक्षसादिकी पूजा करते हैं । रजोगुणी वे हैं जो जहां तहां किसी मुक्तात्मा पुरुषकी समाधि तथा ६४ योगिनियों की पूजा करते हैं । सत्वगुणी वे हैं जो गन्धर्व, देव, अजानज देव, पितरलोकनिवासियोंकी, कर्मदेवोंकी, स्वर्गवासी वरुण, कुवेर, इन्द्रादि देवोंकी तथा वृहस्पति, प्रजापति इत्यादि पतियोंकी पूजा करते हैं । इन तीनों प्रकारके पूजन करनेवालोंमें जो तामसी हैं वे निकृष्ट हैं नीच हैं ।

इनसे जो कुछ अधिक विचारवान हैं अर्थात राजसी गुणोंसे सम्पन्न हैं वे अपनी मनःकामनाओंकी पूर्तिके तात्पर्यसे युक्तात्माओंकी तथा उनकी समाधिकी पूजा कियाकरते हैं । जैसे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, पारसनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द, ध्रुव, प्रह्लाद, भरद्वाज इत्यादि ।

इनसे श्रेष्ठ सात्विक पूजाकरनेवाले वे हैं जो इन्द्र, वरुण, कुबेर, वृहस्पति, प्रजापति इत्यादिकी पूजा करते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि ये जितने प्रकारके पूजा करनेवाले हैं इन सबोंपर मेरी कृपादृष्टि रहती है। मैं सदा यही चाहता हूं, कि मेरी सारी प्रजा धीरे-धीरे उन्नति करतीहुई मेरे तक पहुंचजावे। इसी कारण हे अर्जुन! मैं तुझसे कहता हूं, कि जो भक्त जिस-जिस मूर्तिकी उपासना (पूजा) करते हैं उनमेंसे भूत प्रेत पूजनेवालोंकी बुद्धि को तो मैं ऐसी प्रेरणा करता हूं, कि वे किसी साधु महात्माके संगमें पहुंच इनकी पूजा छोड तामसी बुद्धिको त्याग रजोगुणी बुद्धि फिर रजोगुणी बुद्धिको त्याग क्रमशः सत्वगुणी बुद्धिकी ओर झुकें। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**तस्य तस्याचलां श्रद्धाम् तामेव विदधाम्यहम्**] तिन २ देवताओंकी पूजा करने वालोंकी श्रद्धा तिन-तिन देवताओंमें मैं पहले दृढ करदेता हूं।

शंका— इनमें उनकी अचल श्रद्धा होजानेसे फिर तो वे इनका कभी त्याग नहीं करेंगे। क्योंकि अचल श्रद्धा तो तबही होगी जब इन देवताओंके द्वारा इनकी मनःकामनाओंकी पूर्ति होती चलीजावेगी और जब प्राणीकी मनःकामनाओंकी पूर्ति हुई तो फिर उस देवता देवीमें उसका ऐसा विश्वास जमजाता है, कि ब्रह्माके डोलाये भी नहीं डोलता। इसलिये ये प्राणी तो ज्योंके त्यों जन्मजन्मान्तरसे जैसे करते आये हैं अभी सहस्रों जन्मोंमें तदनुसार ही करते रहेंगे। भगवत्स्वरूप तक पहुँचनेका तो संयोग ही नहीं होगा।

इसलिये भगवान्‌का यह कहना, कि उसी देवतामें मैं उनकी श्रद्धाको दृढ करदेता हूं अनुचित जान पढता है। ऐसा क्यों ?

समाधान— किसी प्राणीकी श्रद्धा किसी वस्तुमें, घासमें, पातमें, भींतमें, कंकडमें पत्थरमें कहीं भी जबतक स्थिर होकर जम न जावे तबतक उसके मनको एकाग्रता नहीं प्राप्त होसकती जबतक चित्त-वृत्तिकी एकाग्रता न हो तबतक अपने यथार्थस्वरूपका बोध नहीं होस-कता। जैसे डोलते हुए जलमें अपनी मूर्ति विकृत देख पडती है। इसी प्रकार डोलते हुए अन्तःकरणको अपना स्वरूप विकृत भासता है यथार्थ नहीं भासता अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसकती। जबतक आत्मज्ञान न हो भगवत्स्वरूपको कोई भी प्राप्त नहीं करसकता। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं इन अन्य देवताओंके पूजनेवालोंकी श्रद्धा उनके देवताओंमें दृढ करादेता हूं। दृढ करनेका तात्पर्य्य इतना ही है, कि उसे उसके मनकी एकाग्रताकी प्राप्ति होजावे। शंका मतकरो!

शंका— पूर्वश्लोक २० में तो भगवानने अन्य देवता देवियोंके पूजकोंको हतज्ञान अर्थात् ज्ञानहीन कहा और इस श्लोक २१ में कहते हैं, कि "तस्य तस्याचलां श्रद्धाम्" अन्य देवता, देवी इत्यादिके पूजकोंकी श्रद्धाको उन उपास्यदेवोंमें दृढ करदेता हूं। इन दोनों वचनोंमें विरोध देखा जाता है ऐसा क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें कुछभी विरोध नहीं है सर्व वेद शास्त्र इत्यादि तथा महर्षि गण भगवत्‌को कृपासागर और पतितपावन कहते हैं। तहां कृपा भी उसीपर कीजाती है जो दीन और दुःखी

तथा शोचनीय हो। और पावन भी वही कियाजाता है जो पतित हो। दीनोंपर कृपा करना और पतितोंका पावन करना भगवत्की मुख्य विरुदावली है। इसलिये जब अर्जुनने पूछा है, कि हे भगवन् ! इन "हतज्ञान" अन्य देवता देवियोंके पूजकोंपर आप कभी कृपा भी करते हैं ? तब अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं, कि हां ! इनपर मैं अवश्य कृपा यों करता हूं— पहले इनको तामसी वृत्तिकी प्रेरणाकर रजोगुणकी ओर और रजोगुणसे सत्वगुणकी ओर मोड देता हूं अर्थात् जब ये मेरी कृपासे सत्विकी बुद्धि पाकरे सत्वगुण बिशिष्टदेवोंकी उपासना करने लग-जाते हैं तब मैं इनकी श्रद्धाको उनके उपास्य-देवोंमें अचल और दृढ करदेता हूं जिससे इनको मनकी एकाग्रता प्राप्त होती है। क्योंकि उपास-नाका मुख्य तात्पर्य ही मनकी एकाग्रताका लाभ करना है, जिस एका-ग्रतासे अन्तःकरण शुद्ध होकर संसारबन्धनसे मुक्त होजाता है। तिस मुक्तिसे भगवच्चरणारविन्दोंमें प्रीतिकी वृद्धि होती है। तहां प्राणी प्रेमयोगमें उन्नति करते २ भगवत्स्वरूपमें जामिलता है। इसलिये भगवान् "हतज्ञान" अन्यदेवताओंके पूजकोंपर कृपाकर अपने स्वरूपमें मिलालेनेका उपाय प्रदान करते हैं। शंका मत करो !

अब यहां श्रुतिके प्रमाणसे भी दिखलाया जाता है, कि भगवान् अपनी शक्ति सब देवता, देवी, मनुष्य, गन्धर्व इत्यादिमें प्रदानकर उनके द्वारा भिन्न २ कार्य्योंका सम्पादन करवाया करते हैं। प्र० श्रुतिः—

"ॐ य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥"

(श्वेता० अ० ३ श्रुति १)

अर्थ— वही एक जालवान् अर्थात् मायाका जाल फैलाने वाला मायाजाल फैलाकर अपनी शक्तिसे सर्व लोकोंको शक्तिमान् बनाता है अर्थात् इन सब देव, देवी, गन्धर्व, मनुष्य, राक्षसादिके " उद्भवे " (विभूतियोगप्रदानके समय) और " संभवे " (इनके प्रादुर्भाव होनेके समय) अपनी शक्ति देकर इन सबोंको शक्तिमान् बना देता है । सो जो प्राणी ऐसा जानता है वह अमृत अर्थात् कैवल्य परमपदको प्राप्त होता है। फिर इसी उपनिषद्के अध्याय ४ श्रु० १२ में यों कहा है– " ॐ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः " अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् रुद्रस्वरूपसे सब देवताओंका प्रभव और उद्भव है तात्पर्य्य यह है, कि उत्पत्तिका (उनके बिभूतियोगके युक्त होनेका) कारण है तथा महर्षि अर्थात् सर्वज्ञ है ।

यदि शंका हो, कि ये अन्य देवताओंके पूजनेवाले प्राणी एवम्प्रकार अपने २ इष्टदेवमें श्रद्धाकी दृढतासे जब एकाग्रताको प्राप्त करलेवेंगे तो फिर उस महेश्वर वासुदेवतक कैसे पहुंचेंगे ?

उत्तर इसका यह है, कि जैसे छोटी २ नदियां बहतीहुई गंगा, यमुना, सिंन्धु, नर्म्मदा इत्यादि बडी नदियोंमें गिरती हैं फिर वे बडी नदियां बहतीहुई समुद्रमें पहुंचजाती हैं । इसीप्रकार इन देवताओंके पूजनेवाले क्षुद्रदेवताओंसे बडे २ देवताओंके समीप पहुंचते हैं । फिर वे बडे देवता जब उस महेश्वरसे जा मिलते हैं तब उनके साथ २ उनके उपासक भी उस महेश्वरमें पहुंच जाते हैं । क्योंकि वह महाप्रभु वासुदेव सच्चिदानन्द विश्वम्भर सब देव देवियोंके

पति है इस कारण इन देवताओंको अपने पतिकी शरण जाना ही आवश्यक है। चाहे आज ही जावें चाहे कल्प कल्पान्तमें जावें पर जाना आवश्यक है । फिर जहां उपास्य जावेगा वहां उपासक भी अवश्य जावेगा । क्योंकि पहले ही भगवान् कहआये हैं, कि इन उपासकोंकी दृढ श्रद्धा मैं इन देवताओंमें करादेता हूं। तो यह प्रत्यक्ष है, कि जिसकी दृढ श्रद्धा पूर्ण संकल्पको लियेहुए अपने इष्ट देवमें बनीहुई है वह अवश्य अपने इष्टके स्वरूपको प्राप्त होकर इष्टके लोकमें पहुंचेगा । एवम्प्रकार जब वह अपने इष्टके लोकको पहुंच गया तो जब वह लोक नष्ट होकर ब्रह्मलोकमें जा मिलेगा तब वह प्राणी भी तहां ही पहुंच जावेगा । फिर तहांसे उस महेश्वरके परमधामको पहुंचेगा । क्योंकि-सबोंका विश्रामस्थान वही महाप्रभु है ।

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥" (अर्थ स्पष्ट है)

(श्वेता० अ० ६ श्रु० ७)

इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकके अन्तमें कहा, कि "तामेव विदधाम्यहम्" मैं उन देवताओंमें उनके उपासकोंकी श्रद्धाको दृढकर जमा देता हूं जिसमें उनका विश्वास भी बढताजावे । क्योंकि श्रद्धा और विश्वास इन दोनोंकी वृद्धिसे मनुष्य परमतत्त्वको प्राप्त करलेता है ॥ २१ ॥

अब इसी तात्पर्य्यको भगवान् अगले श्लोकमें दृढ करते हैं—

मू०— स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— सः (भक्तः) तया (मद्विहितयाऽचलया) श्रद्धया, युक्तः (सहितः) तस्य (देवस्य) आराधनम् (पूजनम्) ईहते (चेष्टते । करोति) ततः (तस्य देवस्य सकाशात्) एव (निश्चयेन) च (तथा) मया, एव, विहितान् (निर्म्मितान् आज्ञापितान् वा) तान् कामान् (ईप्सितान् विषयान्) हि (निश्चयेन) लभते (प्राप्नोति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (सः) सो जो अन्य देवताओंका पूजनेवाला सकाम भक्त है (तया, श्रद्धया) तिस श्रद्धासे (युक्तः) युक्त होकर (तस्य) तिस देवताका अथवा तिस देवताकी मूर्तिका (आराधनम्) पूजन भजन (ईहते) करता है (ततः) तब वह उस देवताके द्वारा भी (मयैव, विहितान्) मुझसे निर्माण कीहुई

टि०— हितान्— इति पदच्छेदे हितत्वं कामानामुपचरितं कल्प्यं नहि कामाः हिताः कस्यचित् । (शंकरः)

हितान्— ईप्सितान् (नीलकण्ठः)

हितान्— मनःप्रियान् (मधुसूदन)

वा मुझसे आज्ञा कीहुई (तान्, कामान्) उन कामनाओंको (हि) निश्चय करके (लभते) प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इन अन्य देवताओंके पूजनेवाले सकामभक्तोंकी सच्ची दशा बताते हुए कहते हैं, कि [स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते] सो जो अन्य देवताओंका पूजनेवाला सकाम भक्त है तिस श्रद्धासे युक्त होकर तिस देवताका भजन करता है। सो जो नाना प्रकारके विषयोंकी प्राप्तिकी कामनासे इन्द्र, वरुण, यम, कुबेरादि देवताओंके पूजनेवाले हैं मैं उनकी श्रद्धा उन देवताओंमें ही करादेता हूँ अर्थात् उनकी मनःकामनाओंकी पूर्ति करवाता चलाजाता हूँ। यद्यपि मैं जानता हूं, कि ये मूर्ख हैं मुझको नहीं जानते तथापि जैसे पिताको गूंगे, बहरे, विद्याहीन पुत्रोंपर भी दया आती है और उनको अशक्य जानकर उनके भोजनाच्छादनादिका भी प्रबन्ध करदेता है। इसी प्रकार ये सारी लँगडी लूली ज्ञानसे रहित मेरी प्रजा है। मैं जगत्पिता कहलाता हूं केवल ज्ञानपिता नहीं वरु ज्ञानी वा अज्ञानी सबका पिता अर्थात् रक्षक मैं हूं। इसलिये उनकी बिगडी दशा देख उनपर दया आती है। क्योंकि मैं जानता हूं, कि ये कामनावाले हैं और कामना पापका मूल है, कामना कारागारमें लेजाती है, कामना मुशकें बंधवाती है, रौरव और कुम्भीपाकको पहुंचाती है, कामना द्वार-द्वार फिराती है, कामना मूर्ख धनवानोंके सामने बडे २ विद्वानोंसे अंजली जुडवाती है, कामना पृथ्वी खुदवाती है, कामना समुद्रमें डुबाती है कामना रणमें गर्दन कटवाती है, कामना नीचोंकी सेवा करवाती है, कामना चोरी सिखाती है, यहां

तक, कि कामना बढते-बढते प्राणीको धूलमें मिलादेती है। कामना-वाले की कामना यदि पूर्ण होगयी तब तो उस देव देवीमें उसके विश्वासको दृढ करदेती है यदि नहीं पूर्ण हुई तो वही मूर्खभक्त उस अपने देव देवीको सहस्रों गालियां सुनाता है और उसकी मूर्ति उखाडकर अपने घरसे बाहर फेंक आता है तथा उस देवताका कभी नाम भी नहीं लेता। तो ऐसी दशामें उस प्राणीका परिश्रम जो थोडे दिन उस देवता देवीके पूजनमें हुआ था व्यर्थ होजाता है। फिर तो वह प्राणी नष्ट ही होजाता है।

इसी कामनाके विषय भगवान पहले भी कह आये हैं, कि " संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते......."

अर्थ— संगसे कामना उत्पन्न होकर यदि उसकी पूर्ति न हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है तिससे बुद्धि भ्रष्ट होती है। इस श्लोकके अन्तमें भगवानने कहा है, कि " प्रणश्यति " अर्थात् प्राणी नाश होजाता है।

इसी कारण कृपासागर अपनी कृपाका परिचय देते हुए कहते हैं, कि मुझे इन अज्ञानी भक्तोंका परिश्रम देख दया आती है। जैसे कोई बालक अपनी मरी माताकी छातीपर उसके स्तनको मुखमें ले बारं २ खींचता है पर उसमें दूध नहीं आता तो देखनेवालेको उस बच्चेपर दया आती है। इसी प्रकार कामनावाले प्राणीकी कामना अन्य देवताओंसे जो मृतकके तुल्य हैं पूर्ण होना न देखकर मुझे उस-पर दया आती है तब मैं दोनोंपर अर्थात् उपास्य और उपासक (उस

देवता और उसके पूजनेवाले) पर कृपा दृष्टि करके उस देवमें अपनी शक्ति प्रदानकर उसके पूजनेवालेकी मनःकामनाओंको पूर्ण करदेता हूँ। यदि ऐसा न करूँ तो मेरी कृपामें बट्टा लगता है। इसलिये मैं अवश्य उन देवताओंके द्वारा इन पामर सकामी मनुष्योंकी मनःकामना पूर्ण करा ही देता हूँ।

एवम्प्रकार उसकी मनःकामनाकी पूर्ति होजानेसे उस देवता, देवीमें उस प्राणीकी श्रद्धा उत्पन्न होती है वह उस श्रद्धासे युक्त होकर " तस्याराधनमीहते " तिस देवताकी आराधना करता है अर्थात् मन ही मन उसकी मूर्ति बनाकर अथवा पाषाण, मृत्तिका इत्यादिकी प्रतिमा बनाकर पूजता है।

एवम्प्रकार यह भक्त अपने इष्टदेवकी आराधना कर [लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्] उन्हीं देवताओंमें अपनी कामनाओंको पाता है अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण इत्यादिका फल प्राप्त कर प्रसन्न होता है। भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो इन देवताओं द्वारा प्राणी कामनाएं लाभ करता है सो सब कामनाएं कैसी हैं ? कि ' मयैव विहितान् हितान् ' वे सब मुझसे विहित कीगयी हैं अर्थात् जिस समय मैंने " एकोहं बहुस्याम " कहकर सृष्टिको फैलायी थी उसी समय प्रजापतिको आज्ञा देदी, कि जीवोंके कर्मोंका और उनके फलोंका प्रबन्ध करदो। इसलिये प्रजापतिके सृष्टिकी रचनाकरनेके साथ२ देवता और मनुष्योंमें परस्पर वृद्धि करने

की आज्ञा देदी। (देखो अध्याय ३ श्लोक १० से १२ तक जहां यह दिखलादिया गया, कि किस देवतासे प्रजाको क्या लाभ होता है ?)

इसी तात्पर्यको स्पष्टरूपसे दिखलानेके लिये भगवान इस श्लोक के अन्तमें कहते हैं, कि " विहितान् हितान् " अर्थात् मेरे द्वारा जिन कर्मोंके फल वेदोंमें विहित कियेगये हैं वे विधि कहलाते हैं । और जिन कर्मोंसे नरकादि नाना प्रकारके दुःख भोगनेका व्योरा दिखलाया गया वे निषेध कहलाते हैं । अर्थात् वेदोंके द्वारा विधि (पुण्य) और निषेध (पाप) का भेद मनुष्योंको बताया गया।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि जो फल जिस प्रकार मेरे द्वारा विधि कियागया उसको उसी रीतिसे देवता लोग प्रदान करते हैं। यदि इन दोनों पदोंका एकसाथ करके अन्वय कियाजावे, कि विहितान् हितान् तब यो अर्थ होगा, कि जो मनःकामनाएं प्रजापतिके द्वारा विहित कीगयी और जो कामनाएं सकामभक्तोंको हित हैं अर्थात् प्रिय हैं उनको भक्तजन लाभ करते हैं ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! यदि ये अन्य देवपूजक अपने-अपने इष्टकी पूजा कर अपनी मनःकामनाओंकी पूर्ति करते चले जावें और उनके लोकको प्राप्त होते चलेजावें तो इसमें हानि क्या है ?

इतना सुन भगवान् मन्द-मन्द मुसकातेहुए गम्भीर शब्दोंसे बोले—

मू०—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३

पदच्छेदः— तेषाम (वाह्यार्थाभिलाषिणाम्) अल्पमेधसाम (मन्दप्रज्ञत्त्वेन तत्त्वविवेकासमर्थानाम) तत् (अन्य देवताराधनजम्) फलं, तु, अन्तवत् (विनाशि) भवति, देवयजः (इन्द्राद्यर्चकाः) देवान, यान्ति (प्राप्नुवन्ति) मद्भक्ताः (मदाराधनतत्पराः) अपि, माम् (वासुदेवम सच्चिदानन्दघनमनन्तम् परमात्मानम्) यान्ति (गच्छन्ति) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (तेषाम्) नाना प्रकारकी वाह्य कामनाओंके करनेवाले (अल्पमेधसाम) क्षुद्रबुद्धियोंका (तत्फलम) वह फल जो अन्य देवताओंकी आराधनासे प्राप्त होता है (तु) निश्चय करके (अन्तवत्) नाशवान् (भवति) होता है क्योंकि (देवयजः) देवताओंके पूजन करनेवाले (देवान्) केवल उन देवताओंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं और (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (मामपि) मुझ अनन्त वासुदेव सच्चिदानन्दघनको भी (यान्ति) प्राप्त होजाते हैं अर्थात् मेरे स्वरूपमें प्रवेश करजाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थः— जिस मार्गचलनेवालेको अपने सच्चे विश्रामस्थानपर पहुंचना है उसे किसी सेतुपर खडा रहना नहीं चाहिये वरु उस सेतुको पारकर आगेका मार्ग लेना चाहिये । कहनेका तात्पर्य यह

है, कि अन्य देवताओंकी पूजा सेतुके समान है जिसे छोडकर भगवत्स्वरूपरूप अपने विश्रामस्थान तक पहुंच जाता है। इसलिये अन्य देवताओंकी पूजा थोडे दिनके लिये विहित कहते हुए भगवान् यथार्थ तत्त्वके दिखलानेके तात्पर्यसे अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि [अन्तवत्तु फलं तेषाम् तद्भवत्यल्पमेधसाम्] इन क्षुद्रबुद्धियोंके अन्य देवताओंकी पूजाका फल नाशवान् है अर्थात् वे जो नाना प्रकारकी कामनाओंके करनेवाले जो मारण, मोहन, वशीकरण द्वारा अप्सराओंको वश करनेकी कामना रखते हैं तथा पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति राज्य पाट इत्यादिकी अभिलाषा रखते हैं अथवा नाना प्रकारकी आराधना करके स्वर्गलोक, वरुणलोक, कुवेरलोक इत्यादि लोकोंकी आकांक्षा करते हैं उनका फल भी अन्तवाला है अर्थात किसी न किसी समय कहीं न कहीं जाकर नाश होजानेवाला है स्थिर रहनेवाला नहीं है। क्योंकि जब तक इन देवलोकोंकी स्थिति रहेगी तबहीतक अर्थात केवल एक कल्पतक उन लोकोंका सुख भी रहेगा जो बहुतही अल्प है। इसलिये ऐसे अल्प सुखकी कामना करनेवाले अल्पमेधस अर्थात क्षुद्रबुद्धि कहे जाते हैं।

शंका— एक दो दिनके आनन्दकेलिये तो सहस्रों पुरुष सिर धुनाकरते हैं केवल संसारी विषयकेलिये जो अत्यन्त अल्पकाल तक रहने वाला है रणभूमिमें जाकर सहस्रों मनुष्य मस्तक कटवा देते हैं बडे-बडे चक्रवर्त्ती बाणोंसे बेधेजाते हैं। फिर विचार करने योग्य है, कि संसारी चक्रवर्त्तीका सुख जो देवलोकोंके सुखकी अपेक्षा अति अल्प है जिसके लिये ही अपना प्राण संकल्प करदेते हैं तो यदि देवपूजकोंने स्वर्गकेलिये

तथा प्रजापति लोकादि लोकोंके लिये जिसका सुख महाप्रलयपर्यन्त भोगेंगे तो क्या यह सुख थोडा है? फिर भगवान्‌ने इन कामनावालों को "अल्पमेधस" क्षुद्रबुद्धि क्यों कहा?

समाधान— जो प्राणी उदारबुद्धि अर्थात् विशाल प्रज्ञावाला है और लोक, परलोक तथा इस सृष्टिकी रचनाको समझताहुआ आत्मज्ञानका साक्षात्कार करनेवाला है उसको तो यह अनुभव है, कि यह काल अनादि और अनन्त है। चाहे सहस्रों महाप्रलय क्योंन होजावें पर इन सहस्रों महाप्रलयके समयको यदि एकत्र करदिया जावे तो उस महाकालकी अपेक्षा ये सब मिलकर इतना भी नहीं हैं जितना, कि एक वर्षकी अपेक्षा पलमात्र।

जैसे छोटे बच्चेकी शान्ति माताके स्तनसे केवल एक चिल्लुमात्र क्षीर खींचलेनेसे होजाती है पर वह संतोष अधिक काल रहनेवाला नहीं होता फिर शीघ्र ही उसे क्षुधा लग आती है। इसी प्रकार इन अन्य देवपूजकोंका सुख चाहे सहस्रों कल्पमात्रका क्यों न हो पर आत्मज्ञानसे महाकालकी अपेक्षा इतना भी अत्यन्त अल्प ही है केवल अल्पबुद्धियोंकेलिये ही यह बहुत बडा सुख है। जैसे हस्तीके अहारके सामने एक छोटीसी पिपीलिकाका अहार अन्यन्त अल्प है। शंका मत करो! लो और सुनो—

श्रुतिः— "ॐ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति॥ यो वा

एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः”

(बृह० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० १०)

अर्थ— याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे गार्गी! जो प्राणी इस भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालमें एकरस रहनेवाले, कभी भी नाश नहीं होनेवाले अक्षर ब्रह्मके आनन्दको नहीं जानकर केवल अपनी स्वर्गादि मनःकामनाके साधनेके तात्पर्य्यसे इस संसारमें नाना प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करता है, भजन करता है तथा तपस्यासे अपनेको तपायमान करता है, सहस्रों वर्ष पर्य्यन्त बनमें निराहार रहकर अथवा सूखी पत्ति खाकरे वा केवल जल वा वायुमात्रका आहार करके तप करता है तिस प्राणीके तपका फल भी नाशवान् ही होता है। क्योंकि किसी प्रकारका फल क्यों न हो जब फल हुआ तो कभीनकभी अवश्य नाश होही जावेगा। इसलिये हे गार्गी! जो उस अक्षर ब्रह्मको न जानकरे केवल कर्मोंको करेता हुआ इस कर्मलोकसे जाता है वह कृपण है उदार नहीं है पर हे गार्गी! जो इसको जानकरे अर्थात् आचार्य्यद्वारा उपदेश पाकर “अहं ब्रह्मास्मि” ऐसा जानता हुआ इस लोकसे जाता है सोही ब्राह्मण है अर्थात् ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर भगवत्स्वरूपमें लय होजानेवाला है।

ऐसे पुरुषकेलिये फिर श्रुति कहती है, कि “आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्” (बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्लो० १२)

अर्थ— जो अल्पबुद्धि नहीं है उदार बुद्धि है वह अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण ऐसा जानता है, कि जो परमात्माख्य पुरुष है सो मैं हूँ। ऐसा आत्मज्ञानी केवल भगवत्की ही उपासना कर भगवत्-स्वरूपमें ही मग्न रहकर किसी भी कामनाकी इच्छा न कर तथा अन्य देवताओंकी उपासना न कर केवल उसी सच्चिदानन्द आनन्दघनके प्रेमका रस लेता हुआ अपना समय आनन्दसे बिताता रहता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि**] जो देवताओंके भजन करनेवाले हैं वे देवताओंको प्राप्त होते है अर्थात् जिस २ देवताकी जो उपासना करता है वह उसी २ देवताके रूपको और उसकी समीपताको पाता है और जो मेरी उपासना करनेवाले हैं वे मुझको प्राप्त करते हैं। इसी विषयको भगवान् आगे अध्याय ८ के ६ वें श्लोकमें कहेंगे "यं यं भावं स्मरन्वापि त्यजत्यन्ते...." अर्थात् प्राणी जिस २ भावको स्मरण करता हुआ अन्तमें अपने शरीरको परित्याग करता है वह तिन्हीं २ भावोंको प्राप्त होता है।

मुख्य तात्पर्य्य भगवान्के कहनेका यह है, कि साधारण प्राणी जो अल्पमेधस (संकीर्णबुद्धि) हैं वे मुझको एकाएक नहीं जान सकते। क्योंकि उनकी बुद्धिका संयोग पूर्वकर्मानुसार वहाँतक नहीं पहुँचा, कि मेरेमें उनकी प्रीति हो अतएव किसी साधारण देवताका भजन करके उसके लोकके सुखको प्राप्त होते हैं। जैसे देवताओंके भजन करने वाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, ऐसेही मेरे भज-

नकरनेवाले भी मुझहीको प्राप्त होते हैं। अथवा यों अर्थ करलो, कि जैसे अन्य देवताओंके भक्तोंको मैं उन देवताओंसे कामना पूर्ण करवादेता हूँ ऐसे ही मैं भी अपने भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करदेता हूँ। मेरे भक्त अपनी कामनाओंको भी पाते हैं और मुझको भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि मेरे भक्तोंको मुझे छोड अन्य कुछ भी कामना नहीं होती न उनको कोई अर्थ साधन करना रहता है तथापि विना माँगे, बिना कामना किये सब पदार्थ उनके पास आपसे आप दौडे चलेआते हैं। यह वचन भगवान् पहले ही इस गीताके दूसरे अध्यायके ७० वें श्लोकमें कहआये हैं, कि " **विहाय कामान् यः सर्वान्** " अर्थात् जैसे सर्वप्रकार जलसे भरे पूरे अचलप्रतिष्ठ समुद्रको जलकी कामना नहीं रहती तथापि सब नदियाँ बिना बुलाये आपसे आप समुद्रमें आ गिरती हैं। इसी प्रकार मेरा भक्त जो सर्वकामपूर्ण है उसके पास सब कामनाएँ आपसे आप आन पहुंचती हैं। इसलिये कामनाओंकी कुछ भी परवाह न कर केवल मेरे ही स्वरूपमें मग्न रहता है। " **अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यन्मनुतेऽन्यद्विजानाति तदल्पम्** । " अर्थात् जबतक यह मनुष्य उस सच्चिदानन्दघन सत्यस्वरूप अनन्तगुणविशिष्ट वासुदेवको छोड अन्य पदार्थोंको अथवा अन्य देवताओंको देखता है अन्यको सुनता है, अन्यको मानता है और अन्यको जानता है, तबतक वह अल्प है अर्थात् उसका सुख भी अल्प है और वह प्राणी भी अल्पमेधस है ॥ २३ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि हे भगवन्! जब आपके भजनसे प्राणियोंको सर्वोत्तमसुख भी लाभ होता है और आप साक्षात्

परब्रह्मस्वरूप भी उसे मिलजाते हैं तो क्या कारण है, कि आपको छोड प्राणी अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

पदच्छेदः— अबुद्धयः (विवेकहीनाः) मम, अव्ययम् (नित्यम् । अविनाशिनम्) अनुत्तमम् (निरतिशयमखण्डैश्वर्य्यपूर्णम् । सर्वोत्कृष्टम् वा) परंभावम् (परमात्मस्वरूपम्) अजानन्तः, अव्यक्तम (सर्वोपाधिशून्यत्वेनास्पष्टम । प्रपंचातीतम् वा) माम (वासुदेवम्) व्यक्तिम् (मनुष्यमत्स्यकूर्मादि शरीराभिमानिनम्) आपन्नम् (प्राप्तम्) मन्यन्ते ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अबुद्धयः) बुद्धिहीन पुरुष (मम) मेरे (अव्ययम्) नित्य अविनाशी (अनुत्तमम्) सबोंसे श्रेष्ठ (परं भावम्) परमात्मस्वरूपको (अजानन्तः) नहीं जानतेहुए (अव्यक्तम, माम्) मुझ अव्यक्तको अर्थात् सर्वप्रकारकी उपाधिसे शून्य शरीररहितको (व्यक्तिमापन्नम्) मनुष्य, कूर्म्म, मत्स्यादि शरीरको धरण कियेहुए (मन्यन्ते) मानते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि हे भगवन् ! तुमको सर्वप्रकार सुखस्वरूप जानकर अन्य देवताओंको छोड प्राणीमात्र केवल तुम्हारी ही उपासना क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर देतेहुए

श्री आनन्दकन्द गोकुलचन्द कहते हैं, कि [**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः**] जो प्राणी बुद्धिहीन हैं वे मुझ अव्यक्तको व्यक्त मानते हैं अर्थात् मुझ अशरीरीको शरीरवाला मानते हैं। वे लोक, परलोक, कर्म, उपासना, ज्ञानादिके तात्पर्य्यको नहीं जानते। सगुण, निर्गुण, साकार और निराकारका भेद कुछ नहीं समझते। किसी प्रकारके तत्त्वका जिनको बोध नहीं है, जिनकी बुद्धिका संयोग ज्ञानके साथ नहीं हुआ अर्थात् ज्ञानकी सातों भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा भी जिनको प्राप्त नहीं हुई, किसी सद्गुरुके शरण जाकर सेवासे उनको प्रसन्न न करके ईश्वरमार्गको कुछ भी नहीं जाना। वे भगवान्के अव्यक्तस्वरूपको व्यक्तकरके मानते हैं। जैसे साधारण प्राणी रजवीर्य्यसे उत्पन्न होकर बाल, पौगण्ड, कौमार, किशोर, युवा, वृद्ध इत्यादि परिवर्तनोंको प्राप्त हो मृत्युको प्राप्त होते हैं इसी प्रकार जितने मूर्ख हैं वे मुझको भी व्यक्तिमापन्न (शरीरधारी) समझते हैं इसी कारण उनकी प्रीति मुझमें नहीं जमती और मेरी उपासना नहीं करते। फिर ये बुद्धिहीन पुरुष कैसे हैं? कि [**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**] मेरे परमभावको नहीं जानते हुए अर्थात् मेरा जो परमात्मस्वरूप है उसे एक वारगी भूलतेहुए और जो सब स्वरूपोंसे मैं परे हूं तिससे अनभिज्ञ होते हुए बुद्धिहीन मेरे स्वरूपकी पूजा वा उपासना नहीं करते।

वह परभाव अर्थात् परमात्म-स्वरूप कैसा है? कि अव्यय अर्थात् अविनाशी है और अनुत्तम अर्थात् सबोंसे उत्कृष्ट और श्रेष्ठ है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मेरा स्वरूप ब्रह्मादि देवोंसे उत्कृष्ट है और अखण्ड

ऐश्वर्य्यसे पूर्ण है। इसी वार्ताको भगवान्‌ने आगे भी अध्याय ६ श्लोक ११ में कहा है, कि " अवजानन्ति माम मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् " अर्थात् जो मूढ हैं वे मुझको मनुष्य-शरीरधारी मानते हैं नहीं तो यथार्थमें मेरा शरीर मानुषी नहीं, रजवीर्यसे नहीं यह तो केवल मायाकृत मनुष्यरूप है।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि विवेकहीन इस मेरे अव्यय और अनुत्तम परमभावको नहीं जानतेहुए मुझ जन्ममरणरहित, अजर और अविनाशीको जन्ममरणवाला, नाशवान मानते हैं इसलिये मुझे छोड अन्य२ देवता देवीकी उपासनामें रत रहते हैं ॥ २४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन! आप साक्षात् पूर्णपरब्रह्म, जगदीश्वर, सच्चिदानन्दघन, सर्वेश्वर, जन्म मरणसे रहित, अज और अविनाशी हो फिर क्या कारण है, कि प्राणी आपको नहीं जानते?

यह सुन श्रीगोलोकबिहारी बोले—

मू० - नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५

पदच्छेदः— अहम् (वासुदेवः) सर्वस्य (सर्वेषां भूतानाम) प्रकाशः (स्पष्टरूपेणातिप्रसिद्धः) न [तस्मात्] योगमायासमावृतः (योगो युक्तिर्मदीयः सः कोप्यचिन्त्यप्रज्ञाविलासः स एव माया। अथवा युक्तिर्गुणानां घटनं सैव माया तया संछन्नः) मूढः (मोहंगतः) अयं, लोकः, माम्, अजम् (जन्मादिरहितम्) न (नैव) अभिजानाति (वेत्ति) ॥ २५ ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं जो महेश्वर वासुदेव सो (सर्वस्य) सब लोकलोकान्तरनिवासियोंको (प्रकाशः, न) प्रकाशित अर्थात् स्पष्टरूपसे प्रसिद्ध नहीं हूं। इसी कारण (योगमायासमावृतः) मेरी योगमायासे आच्छादित होकर (मूढः) मोहको प्राप्तहुआ (अयं, लोकः) यह लोक (माम्) मुझको (अजम्) जन्मरहित और (अव्ययम्) अविनाशी (नाभिजानाति) नहीं जानता है ॥ २५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से प्रश्न किया है, कि तुम्हारे ऐसे पूर्णपरब्रह्म जगदीश्वरको सब लोग क्यों नहीं मानते ? और तुम्हारी ही उपासना क्यों नहीं करते ? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [नाहं प्रकाशः सर्वस्य] मैं सब लोकोंकेलिये प्रकाशमान अर्थात् स्पष्टरूपसे प्रसिद्ध वा प्रकट नहीं हूं मैं क्या हूं ? क्या मुझमें शक्ति है ? कहां निवास करता हूं ? मेरा नित्यकर्म क्या है ? मेरे साथ मेरा सहायक कोई है वा नहीं ? मैं किसी माबापसे उत्पन्न होता हूं वा नहीं ? कबतक जीवित रहता हूं ? फिर शरीर छोडकर कहां जाताहूं ? यह कोई भी नहीं जानता इसलिये मैं सबोंपर प्रकट नहीं हूं। यदि यह कहो, कि मैं कृष्ण हूं, नन्दयशोदा वा वसुदेव देवकीका पुत्र हूं, मैं शत्रुओंको विजयकर नाश करसकता हूं, मैं गोकुल बृन्दावन वा मथुराका रहने वाला हूं, तेरा ममेरा भाई हूं, तुझको युद्धमें सहायता देने आया हूं और सर्वसाधारणके समान कुछ दिन जीवित रहकर मृत्युको

प्राप्त होजाऊंगा सो ऐसा नहीं। क्यों कि मैं पहले ही तुझसे कह आया हूं, कि जो मेरे परमभावके नहीं जानने वाले हैं वे ही मुझको ऐसा मानते हैं पर मैं सो नहीं हूं। मैं साक्षात् परमात्मा हूं, अजन्मा हूं, जन्ममरणसे रहित हूं, अविनाशी हूं, सर्वव्यापक हूं, सम्पूर्ण सृष्टिके उत्पत्ति पालन और संहार करनेकी शक्ति मुझमें है, मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भीतर बाहरे निवास करने वाला हूं, नानाविधि अनगिनत सृष्टिको बनाना और नाश करदेना मेरा नित्य कर्म है, मैं किसी मा-बापसे उत्पन्न नहीं हूं, मैं तीनों कालमें एकरस वर्त्तमान रेहता हूं, मैं मृत्युसे रहित हूं, वरु यों कहना चाहिये, कि मृत्यु मेरी आज्ञामें है और मेरा एक भी शरीर नहीं। सो इस मेरे स्वरूपको स्पष्टरूपसे कोई भी नहीं जानता इसी कारण हे अर्जुन! मैं तुझसे कहता हूं, कि मैं सबलोकोंपर प्रकट नहीं हूं।

प्रिय पाठको! इतनातो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति अपने यथार्थस्वरूपके विषयमें कहा है क्योंकि जो उनका यथार्थस्वरूप है उसको किसी प्रकार जानना नहीं बनता। ये दशों इन्द्रियां उस महा प्रभुके यथार्थस्वरूपके जाननेमें समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के इस बचनको श्रुति भी प्रतिपादन करती है "ॐ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा" (कठो० अ० २ वल्ली ३ मं० १२ में देखो)

अर्थ— वह महा प्रभु सर्वान्तरात्मा न वचनसे प्राप्त होसकता है, न मनसे और न नेत्रोंसे अर्थात् किसी भी इन्द्रिय द्वारा उसे कोई प्राप्त नहीं करसकता और प्रकट रूपसे प्रत्यक्ष नहीं करसकता।

फिर दूसरी श्रुति भी कहती है— "ॐ न सन्दृशे तिष्ठति रूप-मस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" (श्वेता० अ० ४ श्रु० २०)

अर्थ— उस महाप्रभुका स्वरूप (सदृश) अर्थात् जितनी देखने-वाली वस्तु दर्पण इत्यादि हैं उनमें कहीं भी नहीं देखाजाता और न इसको कोई प्राणी इन आंखोंसे देखसकता । क्योंकि यह कहीं भी प्रकट और प्रसिद्ध नहीं है।

फिर तीसरी श्रुति कहती है— " ॐ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" (मुं० ३ खं० १ श्रु० ८)

अर्थ— वह महेश्वर नेत्रसे तथा वचनसे नहीं ग्रहण करनेमें आता है और न अन्य किसी देवताद्वारा जानाजाता है, न तपस्यासे हाथ आता है, न अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञोंसे प्राप्त होता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह वासुदेव यथार्थ स्वरूपसे सर्वोपरप्रकट नहीं है कोई-कोई अनन्यभक्त ही उसके जाननेवाला हो तो हो।

अब इस नहीं जाननेकाकारण भगवान श्रीमुखसे वर्णन करते हैं, कि [योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्] मूढलोक मेरी योगमायासे घिरे रहनेके कारण जो मोहसे मोहित होरहा है मुझ अज, अव्ययको नहीं जानता । क्योंकि मैं " अणोरणीयान " अर्थात् अत्यन्त छोटेसे छोटा होनेके कारण अतर्क्य हूं । कोई अणुमात्र कहता है तो दूसरा मुझे अणुतर अर्थात् अणुसे भी छोटा कहता है और कोई मुझे अणुतम अर्थात्

अणुतरसे भी अधिक सूक्ष्म कहता है। इसलिये बडे-बडे बुद्धिमान और आचार्योंके तर्कमें मैं नहीं आता, एक बालके अग्रभागका करोडभाग करनेसे भी अधिक सूक्ष्म मुझ निरंजन को जानना चाहिये। भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि यह लोक मेरी योगमाया करके मोहित है इसलिये मैं सबको प्रसिद्ध नहीं हूं। अतएव पामर जीव अन्य-अन्य देवताओंकी उपासना करके अपनी-अपनी मनःकामनाओंकी सिद्धि करते रहते हैं और अत्यन्त प्रसन्न हो अपनेको धन्य मानते हैं मुझको नहीं जानते।

इसी कारण यह सिद्धान्त वचन है, कि भगवान्‌की मायासे मोहित प्राणी भगवत्‌के सम्मुख नहीं होते ॥ २५ ॥

इसी विषयको फिर भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं, कि जो मेरा भक्त नहीं है वह मुझे नहीं जानता—

मू०— वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

पदच्छेदः— [हे] अर्जुन! अहम् (महेश्वरः) समतीतानि (समतिक्रान्तानि) वर्त्तमानानि * (प्रारब्धापरिसमाप्तानि) च, भविष्याणि (अनागतानि, आगामीनि) भूतानि (श्वस्तनानि) वेद (जानामि) मां (अजमव्यक्तम्) तु (निश्चयेन) कश्चन, न, वेद (जानाति) ॥ २६ ॥

* प्रवृत्तोपरतश्चैव वृत्ता विरत एव च। नित्यः प्रवृत्तः सामीप्यो वर्त्तमानाश्चतुर्विधाः ॥

पदार्थः—(अर्जुन !) हे अर्जुन (अहम्) मैं जो महेश्वर सो (समतीतानि) जितने भूत पहले होकर विनशगये हैं तिनको तथा (वर्त्तमानानि) जितने अब वर्त्तमान हैं तिनको (च) फिर जितने (भविष्याणि) आगे अब होनेवाले हैं तिनको (च) भी (वेद) जानता हूं (माम्तु) परं मुझको तो (कश्चन) कोई प्राणी (न, वेद) नहीं जानता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपने परमभावको प्रकट करते हुए कहते हैं, कि [वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चाऽर्जुन ! । भविष्याणि च भूतानि] हे अर्जुन ! मैं जो सर्वव्यापक, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सर्वगत, सर्वान्तर्य्यामी, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ यद्यपि अपनी माया फैलाकर सर्वत्र क्रीडा कररहा हूं तथापि मैं इस अपनी मायासे मोहित नहीं होता। इसी कारण मैं इस ब्रह्माण्डमें समतीतानि जितने प्राणी वा पदार्थ उत्पन्न होकेर नष्ट होगये हैं तिनको तथा वर्त्तमानानि जितने प्रवर्तित अब इस समय ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त वर्तमान हैं तिनको भी फिर भविष्याणि च भूतानि जो भूत आगे होनेवाले हैं उनको भी जानता हूं।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितनी रचनाएं होचुकी वा होरही हैं और आगे होनेवाली हैं उनमें जितने विशेष प्राणी, पदार्थ, वस्तु अर्थात् अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, स्थावर तथा ८४ लक्ष योनि फिर पर्वत, समुद्र, हीरा, लाल, मणि, माणिक इत्यादि जितने स्थावर जंगम रूप

भूत हैं मैं सबोंके गुण, कर्म और स्वभावको बिलग २ जानता हूं। अर्थात् ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा बैठे हुए जिस प्रकार सृष्टिकी रचना कररहे हैं और विष्णुभगवान् क्षीरसागरमें शयन करतेहुए जिस प्रकार पालन कररहे हैं तथा कैलाशमें शिवभगवान् बैठे २ जिस प्रकार संहार कररहे हैं तिस सबको पूर्णप्रकार जानता हूं तथा एक छोटीसी चींटी वा पिपीलिका जो किसी छोटे बिलमें चलरही है तिसके गुण, कर्म और स्वभावको तथा उसके अनेक जन्मोंके कर्मोंको भी मैं सांगोपांग जानता हूं अर्थात् सब छोटे बडोंके कर्मोंको मैं पूर्ण प्रकार जानता हूं पर हे अर्जुन! [मान्तु वेद न कश्चन] मुझको अर्थात् मेरे दिव्य कर्मोंको कोई नहीं जानता, कि मैं बैठा२ क्या करता रहता हूं? किसी कार्य्यका साधन करता हूं वा चुपचाप बैठा रहता हूं। किसीको कुछ देता रहता हूं वा किसीसे कुछ लेता रहता हूं।

यहां भगवान्‌ने जैसा अर्जुनसे कहा है श्रुतियां भी उसी प्रकार कहती हैं, कि " न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितात् " (केनोपनि० खं० १ श्रु० ३ में देखो)

अर्थ— श्रुति कहती है, कि मैं उस महेश्वर सर्वान्तरात्माको नहीं जानती हूं और न शिष्यको जना सकती हूं, कि वह इस प्रकारका है। इसीलिये जब स्वयम् श्रुति ही उस महेश्वरको नहीं जानती तो औरोंकी क्या गणना है? अर्थात् जैसे भगवान् पूर्वश्लोकमें कह आये हैं, कि " नाहं प्रकाशः सर्वस्य " मैं सबोंको प्रकाशित नहीं हूं अर्थात् सब मुझको नहीं जानते। जिसका कारण भी

तहां ही दिखाआये हैं; कि " योगमायासमावृतः " ये जीव मेरी योगमायासे प्रच्छन्न हैं इसलिये मुझको नहीं जानते । इसी विषयको श्रुति भी ज्यों का त्यों कहती है, कि " ॐ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते " (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० १२ में देखो) जिसका भाष्य श्री शंकरस्वामी यों करते हैं, कि " एष-पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादि कर्माविद्यामायाच्छन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित् " अर्थात् यह परम-पुरुष ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्य्यन्त सब भूतोंमें गूढ है तथा गुप्त-रूपसे प्रवेश कियेहुआ है इसलिये दर्शन, श्रवण इत्यादि कर्म अविद्या अर्थात् मायासे संछन्न है । इसी कारण किसी प्राणीको वह पुरुष आत्मत्त्व करके प्रकाशित नहीं है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मायासे वशीभूत होनेके कारण उसे कोई नहीं जानता ।

शंका— इस सातवें अध्यायको आरम्भ करतेहुए भगवान् अर्जुनसे प्रथमही श्लोकमें यह प्रतिज्ञा करचुके हैं, कि हे अर्जुन ! तू मुझको पूर्ण-प्रकार जैसे जानेगा सो सब बातें मैं तुझसे कहता हूं चित्त लगाकर श्रवण कर ! और अब कहते हैं, कि " मान्तु वेद न कश्चन " कोई मुझको नहीं जानता ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवान्ने जो यहां "कश्चन" शब्दका प्रयोग किया है तथा 'तू' शब्दका प्रयोग किया है इन दोनों शब्दोंका विशेष तात्पर्य्य यह है, कि "कश्चन" अर्थात् जितने प्राणी मेरी दुरत्यया मायासे मोहित हैं

उनमें तो कोई भी मुझे नहीं जानसकता पर जो प्राणी मायासे मोहित नहीं है वह तो मुझको जानसकता है । अब कहते हैं कि वह कौन है ? जो भगवन्मायासे मोहित नहीं होता तो उत्तर यह है, कि वह भगवान्का परम स्नेही, परम प्रिय, प्रेम-पथका पथिक, जिसने प्रेम मार्गको पूर्ण प्रकार देखाभाला है, केवल देखा ही नहीं वरु प्रेमका स्वरूप ही होरहा है जो उठते, बैठते, सोते, जागते, खाते, पीते और चलते, फिरते हा कृष्ण! हा यादव ! हा माधव ! हा केशव ! हा प्राणनाथ ! इत्यादि प्रेमभरे शब्दोंसे भगवन्नाम उच्चारण करता रहता है उसे माया नहीं व्यापती । सो भगवान् पहले कह आये हैं, कि "**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**" (श्लोक १४) अर्थात् जो मेरे भक्त मेरीशरण आ प्राप्त होवे हैं वे ही इस मायाको तरसकते हैं । तात्पर्य यह है, कि जैसे नटकी माया बडे २ विद्वानोंको मोहित करती है पर नटके सेवकको मोहित नहीं करती वह उस मायाके सब भेदोंको जानता रहता है ।

अर्जुन जो भगवानका भक्त है जिसे भगवान पहले कह चुके हैं, कि "**भक्तोऽसि मे सखा चेति**" (अ० ४ श्लो० ३ में देखो) अर्थात "हे अर्जुन ! तू मेरा भक्त है और सखा है" इसलिये अन्य भक्तोंसे अर्जुनमें विशेषता यह है, कि वह भगवानका भक्त भी है और सखा भी है । ९ प्रकारके जो प्रेमभक्तिके भाव हैं उनमें सख्य-भाव सब भावोंमें श्रेष्ठ है अर्थात सखाभावसे जो भगवान्में प्रेम किया जाता है वह सर्वोत्तम भाव है । इसलिये अर्जुनमें अन्य भक्तोंसे विशेषता भी है । दूसरी बात यह है, कि अर्जुन ज्ञानी भक्त है और ज्ञानी

भक्तके विषय भगवान् कहआये हैं, कि "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक-भक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनः.... " (श्लोक १७ में देखो)

अर्थ— आर्तादि जो मेरे चार प्रकारके भक्त हैं उनमें ज्ञानी सदा मुझहीमें श्रद्धा रखने वाला और मेरा अनन्यभक्त है सो मैं ज्ञानीको अति प्रिय हूं और मुझको भी मेरा ज्ञानीभक्त अत्यन्त प्यारा है जो मुझसे कुछ नहीं मांगता । सो यह अर्जुन भगवान्का ज्ञानीभक्त तथा सखा है इसलिये अर्जुन भगवान्को समग्ररूपसे जानसकता है । यदि शंका हो, कि अर्जुन ऐसा एका-एक क्यों होगया ? तो उत्तर इसका यह है, कि अर्जुन अनेक जन्मोंसे परिश्रम कर निष्काम-कर्मोंका साधन करता हुआ चला आरहा है और यह जन्म उसका अन्तिम जन्म है इसलिये वह भगवान्की शरण प्राप्त है और भगवद्भक्तिका लाभ किया है । भगवान स्वयं श्रीमुखसे कहचुके हैं, कि " बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते " (श्लोक १९) जिसका अर्थ यह है, कि बहुत जन्मोंके पश्चात् ज्ञानवान प्राणी मुझको प्राप्त होता है तबही मुझको जानता है। इसी कारण भगवान्ने जो अर्जुनको यह कहा, कि तू मुझको समग्र जिस प्रकार जानेगा सो सुन !

भगवान्के वचनमें विरोध नहीं है भक्तोंके अतिरिक्त भगवान्को मायामोहित प्राणियोंमें कोई भी नहीं जानसकता । इसीलिये जो भक्त हैं भगवत्की उपासनामें लगे हैं तथा ज्ञानी हैं निष्काम हैं आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करचुके हैं वे ही भगवान्को जान सकते हैं, इनसे इतर कोई नहीं जानसकता । भगवत्के जानने वालोंका लक्षण श्रुतियोंने भी यों वर्णन किया है—

" ॐ दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः "
(कठो अ० १ बल्ली ३ श्रुति १२ में देखो) अर्थ— जो सूक्ष्मदर्शी हैं अर्थात् ज्ञानी हैं उनहीकी अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिके अग्रभागसे वह महाप्रभु देखाजाता है अर्थात् ज्ञानियोंसे वह जानाजाता है।

फिर श्रुति कहती है— " नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति + धीराः " (मुण्ड० १ खं० १ श्रु० ६)

अर्थ— जो धीर हैं अर्थात् विवेकी हैं भगवत्स्वरूपनिष्ठ हैं भगवत्परायण हैं वे ही उस नित्य प्रभुको जो सर्वत्र व्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, दिव्य है और सर्व स्थावर जंगम भूतमात्रकी उत्पत्तिका स्थान है जानते हैं। शंका मतकरो ॥ २६ ॥

अब भगवान् अपने नहीं जाननेका प्रथम कारण जीवोंका योगमायासे मोहित होना बताकर आगेके श्लोकमें दूसरे२ कारणोंको बताते हैं जो भगवत्स्वरूपके जाननेमें प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाले हैं—

मू०— इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥ २७

पदच्छेदः— [हे] परन्तप ! (शत्रुतापन !) भारत ! (भरतकुलोद्भवाऽर्जुन !) सर्वभूतानि (सर्वे प्राणिनः) सर्गे (स्थूलदेहोत्पत्तिकाले) इच्छाद्वेषसमुत्थेन (अनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समु-

+ धीराः— " धीमन्तो विवेकिनः " जो बुद्धिमान् विवेकी अर्थात् ज्ञानी भक्त हैं ॥

स्थितेन) द्वन्द्वमोहेन (शोभनाऽशोभनसुखदुःखशीतोष्णसत्याऽसत्य-नित्याऽनित्याऽत्माऽनात्मसु विपर्ययस्तेन) सम्मोहम् (सम्मूढताम्) यान्ति (गच्छन्ति) ॥ २७ ॥

पदार्थः—(परन्तप !) हे शत्रुओंके नाशकरनेवाले (भारत!) भरतकुलमें उत्पन्न अर्जुन ! (सर्वभूतानि) इस ब्रह्माण्डमें जितने प्राणी हैं वे (सर्गे) जन्म लेनेके समय (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुआ (द्वन्द्वमोहेन) जो द्वन्द्व तिसके कारण (संमोहम्) मूढताको (यान्ति) प्राप्त होजाते हैं । इसी कारण मुझको नहीं जानते, कि मैं कौन हूं ॥ २७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् प्राणियोंकी मूढताका कारण जिससे वे भगवत्स्वरूपको नहीं जानसकते बतातेहुए कहते हैं, कि हे शत्रु-ओंका नाश करने वाला [इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !] हे श्रेष्ठ भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन ! तू भरतके पवित्र वंशमें उत्पन्न है अतएव इच्छा, द्वेष, द्वन्द्व, मोह इत्यादि शत्रुओंका भी दमन करनेवाला है, तू मेरा भक्त है और प्रिय सखा है तथा भरत ऐसे वीरवंशमें उत्पन्न होनेसे तुझमें इन सांसारिक साधारण शत्रु-ओंके ही नाश करनेकी शक्ति नहीं वरु इच्छा, द्वेष करके उत्पन्न द्वन्द्व इत्यादि अलौकिक शत्रुओंके नाश करनेकी सामर्थ्य भी तुझमें है । इसलिये मैं तुझको यह कहता हूं, कि इच्छा और द्वेषसेउत्पन्न जो द्वन्द्व है तिस द्वन्द्वके द्वारा जो मोहकी प्राप्ति होती है उससे सब प्राणीमात्र मोहित होरहे हैं अर्थात् सब प्राणी सदा नाना प्रकारकी अभिलाषा करते ही रहते

हैं जो-जो वस्तु इनको तत्काल सुख देनेवाली हैं इच्छा करते हैं क्योंकि वे इनके अनुकूल होती हैं । उनसे ये अपनी भलाई समझते हैं । क्योंकि जब प्राणी अपने संगी साथियोंको तथा अड़ोस पडोसवालों को नाना प्रकारके विषयोंकी प्राप्ति द्वारा परम प्रसन्न और हर्षित होकर सुख भोगता हुआ तथा राजा, बाबू , सेठ, साहूकार इत्यादि पदवियोंसे सुशोभित देखता है तब इसके चित्तमें भी यही बात्ती घुसती है, कि अपने पडोसियोंके समान मैं भी बडा आदमी धनपात्र बनजाऊं ऐसी-ऐसी इच्छाओंसे वे मोहको प्राप्त रहते हैं । तथा जिन-जिन वस्तुओंसे उनको द्वेष है उनके सम्मुख उपस्थित होनेसे घृणा उत्पन्न होती है जिससे वे मोहमें पडे रहते हैं इसलिये मुझको नहीं जानते ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इन्हीं इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न जो द्वन्द्व अर्थात् इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख और द्वेषयुक्त वस्तुओंकी प्राप्ति से दुःख होता है । इसी सत्य, असत्य, नित्य, अनित्य, शोभन और अशोभन आत्मा और अनात्मा इनका जो विषय प्राणीके चित्त में होता रहता है वही मोहका उत्पन्न करनेवाला है । सो भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप !**] जिस समय इन प्राणियोंका जन्म होता है उसी क्षणसे ये उक्त प्रकारके द्वन्द्वोंसे जनित मोहसे घिरजाते हैं अर्थात् संसारके खड्डेमें गिरजाते हैं । दुःख सुखका अनुभव करने लगजाते हैं क्योंकि यदि इनको दुःख सुखका बोध न होता तो गर्भसे बाहर आते ही रुदन नहीं करते । अभिप्राय यह है, कि यह द्वन्द्वजनित मोह

प्राणीके साथ-साथ उत्पन्न होता है कारण इसका यह है, कि जब यह प्राणी माताके गर्भमें सर्वांगसे तयार होजाता है और नवें मास में सर्वलक्षणपूर्ण होजाता है तब इसे पूर्वजन्मके शुभाशुभ सब कर्म स्मरण होआते हैं फिरतो गर्भहीमें यह नाना प्रकार दुःख सुखका अनुभव करने लगता है। तहां श्रुतिका प्रमाण है— " अथ नवमे मासि सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति पूर्वजातीः स्मरति कृताकृतं च कर्म भवति। शुभाशुभं च विन्दन्ति। "

एवम्प्रकार गर्भहीमें इसको अपने शुभाशुभ कर्म देखपडते हैं फिर जन्म लेनेके पश्चात् उन्हींकी स्मृति (अभिव्यक्त) प्रकट होकर थोडेकाल पश्चात् प्रबुद्ध होजाती है तब धीरे २ पूर्व जन्मके सब संस्कार उदय होतेजाते हैं और प्राणी तदनुसार इच्छा और द्वेष से बद्ध होता चलाजाता है। बचपन ही से अपनी माता और अपने पिताके तो गले लिपटता है पर औरोंके समीप नहीं जाता जो कोई पुरुष वा स्त्री उसे एकबार भी किसी प्रकारका भय दिखादे वा पीडित करदे तो फिर वह बच्चा उसे देख डरता है। द्वेषके कारण उसके समीप नहीं जाता। माताके स्तनको देख दूधके लिये दौडता है यदि किसी प्रकारका प्रतिबन्धक उस दूधके मिलनेमें आनपडे तो वह बच्चा रोने लगता है। जब तक दूध न मिले अथवा माताकी गोद न मिले तब तक रोता ही चलाजाता है। और जब किसी प्रकारसे कभी वह बच्चा प्रसन्न होता है तो हँसता और किलकिलाता है। बुद्धिमान् उसके रोने और हँसनेहीसे यह अनुभव कर सकते हैं, कि इतने से छोटे बच्चेको भी हर्ष विषादका अनुभव होता है। अतएव यह

पूर्ण प्रकार सिद्ध होता है, कि बचपन ही से वरु पूर्वजन्महीसे यह प्राणी इच्छा द्वेष करके बद्ध है ।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जन्म लेनेके समयसे ही (सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति) ये सब जीव जन्तु इच्छा द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्वजनित मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् द्वन्द्वों व। उनके अन्तःकरणपर आवरण पडनेसे बुद्धि प्रकाशरहित होनेके कारण अज्ञानतामें लिपटजाती है ।इसी कारण ये मेरे यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते ।

जो प्राणी पूर्वजन्मका जितना अधिक पापी होगा उसको उतनी ही अधिक इच्छा द्वेषके द्वंद्वोंकी प्राप्ति होगी वह उतना ही मुझसे विमुख होगा । अर्थात् ब्रह्मानन्दकी ओर उसकी बुद्धि कभी भी नहीं जावेगी भगवत्स्वरूपका मिलना तो उसकेलिये अत्यन्त ही असम्भव है ।

ऐसे पापीकी संगतिसे भी बहुत बडी हानि होती है । इसलिये ऐसोंसे विलग रहना उचित है । ऐसे ही मूर्ख, गुरु शास्त्र तथा सनातन धर्मके सिद्धान्तोंकी निन्दा करते हैं और मनमुखी बनकर सात पीढी नीचे और सात पीढी ऊपर वालोंको नरकमें लेजाते हैं । क्योंकि ऐसे प्राणी भगवद्विमुख होनेके कारण आप तो कष्ट भोगते ही हैं पर औरोंको भी दुःखके कारण होते हैं ॥ २७ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! पहले तुमने कहा है, कि मेरे चार प्रकारके भक्त हैं और सब उदार हैं मुझ ही को भजते हैं और अब कहते हो, कि सब प्राणी मेरी मायासे मोहित होकर पूर्व-जन्मार्जित नाना प्रकारके पापोंके कारण संस्कारसे मलीन रहते हैं अतएव मुझको नहीं जानते तो वे जो तुम्हारे चार प्रकारके भक्त हैं वे भी तो इसी संसारमें मायाग्रस्त हैं फिर वे तुम्हें कैसे जान सकते हैं ? यदि इसमें और भी कोई गुप्त रहस्य हो तो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पदच्छेदः— येषाम् (सफलजन्मनाम) तु, पुण्यकर्मणाम् (पुण्याचरणशीलानाम) जनानाम् (प्राणिनाम्) पापम् (दुष्कृ-तम्, पातकम्) अन्तगतम् (अवसानप्राप्तम) ते, दृढव्रताः (अच-लसंकल्पाः, अर्थात् एवमेव परमार्थतत्त्वं नान्यथेत्येवं सर्वपरित्याग-व्रतेन निश्चितविज्ञानाः) द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (यथोक्तद्वन्द्वमोहेन वर्जिताः, रागद्वेषादिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव वर्जिताः) माम् (वासुदेवम्) भजन्ते (अनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (येषाम्) जिन (पुण्यकर्मणाम्, जना-नाम्) पूर्वजन्मोंमें पुण्य अर्थात् शोभन कर्मोंके आचरण किये-हुए प्राणियोंका (तु) निश्चयकरके (पापम्) पापकर्म (अन्त-

गतम्) समाप्त होगया है अर्थात नष्ट होगया है (ते, दृढव्रताः) वे ही दृढव्रतवाले अर्थात् दृढसंकल्प वाले (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) पूर्व श्लोकमें कथन कियेहुए द्वन्द्वमोहसे छुटकारा पाजाने वाले (माम्) मुझ वासुदेवको (भजन्ते) अनन्यशरण होकरे सेवन करते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थः— अब आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**येषां त्वन्तगतं पापं जनानाम्पुण्यकर्मणाम्**] जिन पूर्वजन्मके पुण्यकर्म करने वालोंका पाप-कर्म नष्ट होगया वे ही मुझको भजते हैं । क्योंकि नाना प्रकारके निष्काम-कर्मोंके सम्पादन करनेसे उनका अन्तःकरण शुद्ध होगया है । इसलिये जिन पुरुषोंने अनेक जन्मोंमें शुभाचरण करते २ अपने अशुभ आचरणोंको नष्ट करदिया है वे ही मेरी भक्तिके अधिकारी हैं। क्योंकि पहले तो अनेक जन्मोंमें यह मनुष्य मायासे मोहित रहकर सकामकर्मोंका सम्पादन करते २ अनेक देवताओंकी उपासना द्वारा उस देवताको प्राप्त होते २ उसकी संगतिसे अपनी बुद्धि स्वच्छ करता है तब वह इस संसारको मायाकृत जानकर धीरे २ संसृति-द्वन्द्वोंसे मुंह फेरता है फिर उसे कई जन्मोंके पश्चात् यथार्थ वैराग्य उत्पन्न होता है सो वैराग्य एक जन्ममें नहीं कई जन्मोंमें धीरे २ वृद्धिको प्राप्त होते २ पहले संसारसे उदासीन करता है पर स्वर्ग-लोक इत्यादिकी आकांक्षा उसे बनी रहती है। फिर बार २ अनेक जन्मोंमें स्वर्गादि लोकोंपर चढते उतरते जब उसकी दृष्टिमें ऐसा ज्ञान होता है, कि इन स्वर्गादि लोकोंके सुख भी नश्वर हैं, इनमें आस्था नहीं करनी

चाहिये । तब उसे इन लोकोंसे घृणा उत्पन्न होकर केवल भगवच्च-रणोंकी चाह होती है । एवम्प्रकार भगवच्चरणोंकी चाहमें कितने जन्म बीत जाते हैं तब प्राणीको प्रेम उत्पन्न होता है [ते द्वन्द्व मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः] ऐसे ही प्राणी दृढ-व्रत होकर पूर्व कथन कियेहुये द्वन्द्व और मोहसे छूटकर मुझको भजते हैं । भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी दृढव्रत होते हैं अर्थात् जब उनको भगवच्चरणोंमें प्रीति होजाती है तो फिर चाहे सहस्रों आपत्तियां क्यों न आजावें कदापि अपने नियमसे विच-लित नहीं होते । वे तो अनन्य शरण होकर केवल भगवत्की ही उपासनामें मग्न रहते हैं ।

यह भगवत्की उपासना केवल उन ही प्राणियोंको प्राप्त होती है जो दृढव्रत हैं अर्थात् जो सच्चे संकल्प और सच्चे नियम वाले होते हैं । क्योंकि द्वन्द्व और मोहसे वे छुटकारा पायेहुए रहते हैं ।

प्रमाण– " ॐ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः " (श्वेता० अ० १ श्रु० १० में देखो) अर्थात् जिस परमात्म-देवके ध्यानसे तथा अपनेको योजना करनेसे उसमें अहर्निश लगजानेसे तथा उस भगवत्तत्त्वकी भावना करनेसे " भूयश्चान्ते " अनेकवार जन्म लेनेके पश्चात् अन्तिम जन्ममें विश्व-मायाकी निवृत्ति होजाती है । पहले भगवान् भी ऐसा ही कह आये हैं, कि " बहूनां जन्मनामन्ते.... " (इसी अध्यायके १० वें श्लोकमें देखो)

जब एवम्प्रकार मायाकी निवृत्ति अर्थात् द्वन्द्वमोहकी निवृति हो जाती है तब समग्र भगवत्तत्त्वको प्राणी जानने लगजाता है ॥२८॥

इतना सुन अर्जुने पूछा भगवन् ! ऐसे जो द्वन्द्वमोहसे, रहित पापसे मुक्त और दृढव्रत तुम्हारे चरणोंकी सेवा करनेवाले किन तत्त्वोंके वेत्ता होजाते हैं ? सो कृपा कर कहो !

श्रीआनन्दकन्द बोले अर्जुन ! सुन—

मू०— जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— ये (द्वन्द्वमोहादिनिर्मुक्ताः दृढव्रताः) जरामरणमोक्षाय (वार्द्धक्यम् मरणवियोगादि विविधदुःसहसंसारदुःखनाशाय) माम्, आश्रित्य (मयि समाहितचेतसो भूत्वा) यतन्ति (मदर्पितानि फलाभिसन्धिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति) ते, तत्, ब्रह्म (मायाधिष्ठानं शुद्धं परंब्रह्म) कृत्स्नम् (समस्तम्) अध्यात्मम् (प्रत्यगात्मविषयम्) अखिलम् (सम्पूर्णम्) कर्म, च, विदुः (जानन्ति) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (ये) जो (जरामरणमोक्षाय) वृद्धता और मृत्यु इत्यादि दुःखोंसे छूटनेकेलिये (माम्) मुझ वासुदेवको (आश्रित्य) अवलम्बन करके (यतन्ति) मेरेको प्राप्त करनेकेलिये समस्त कर्मोंको मुझमें अर्पण करतेहुए मेरी प्राप्तिका यत्न

करते हैं (ते) वे (तद्ब्रह्म) तिस शुद्ध परमब्रह्मको तथा (कृत्स्नम) समस्त प्रत्यगात्मविषयको और (अखिलं, कर्म) सब कर्मोंको (च) भी (विदुः) जानजाते हैं ।

भावार्थः— श्रीसकलसुखदाक अखिल ब्रह्माण्डनायक आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये] वृद्धता और मृत्युसे छुटनेके लिये जो लोग मेरे आश्रित यत्न करते हैं उन्हें क्या लाभ होता है ? सो सुनो !

यहां भगवानने जो जरा मृत्यु कहा सो जरा तथा मृत्यु मनुष्यके लिये कैसी दुःखदायी है ? सो दिखलाया जाता है—

चारों अवस्थाओंमें जरावस्था अत्यन्त दुःखदायिनी है और इससे भी अधिक मृत्युका दुःख है इनमें जरा किसीपर आवे वा न आवे पर मृत्यु तो सबोंपर आती ही है। प्राणियोंको इन दोनोंसे छूटनेका यत्न अवश्य करना चाहिये सो यत्न केवल भगवत्का आश्रय लेना है इसी लिये यहां भगवानने कहा है, कि मेरे आश्रय होकर जो जरा मरणसे छुटनेका यत्न करते हैं वे इनसे छुटजाते हैं और सब कुछ जानजाते हैं । पाठकोंके कल्याणार्थ यहां इन अवस्थाओंका तथा मृत्युका वर्णन करदिया जाता है—

प्रमाण— " वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति । तत्रोन षोडशवर्षा बालाः ॥ तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति । तेषु सम्बत्सरपराः क्षीरपाः द्विसम्बत्सरपराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति ॥ षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं

वयः । तस्य विकल्पो बृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति ॥ तत्रा-विंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनं, आचत्त्वारिंशतः सर्वधातुरिन्द्रिय-बलवीर्य्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति ॥ सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधातुरिन्द्रियबलवीर्य्योत्साहमहन्यहनि ॥ वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरभिभूयमानम् सर्व-क्रियासुस्वसमर्थं जीर्णागारमिव अभीष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते "

(सुश्रुत अ० ३५ सूत्र २६)

अर्थ— तीन प्रकारकी अवस्थायें हैं— बाल्य, मध्यम और वृद्ध । पन्द्रह सालतक बाल्यावस्था कही जाती है सो भी तीन प्रकारेकी है— १. क्षीरपा (दूधपीनेवाली अवस्था) २. क्षीरान्नादा (दूध और अन्न दोनोंके ग्रहण करने वाली अवस्था) ३. अन्नादा (अन्नग्रहणकरनेवाली अवस्था) एक सालतक क्षीरपा, दोसालतक क्षीरान्नादा और इससे ऊपर केवल अन्नादा होती है।

फिर सोलह और सतरहके मध्यमें मध्य अवस्था कहीजाती है तिसके भी चार भेद हैं— १. वृद्धि, २. यौवन, ३. सम्पूर्णता, ४. हानि। तहां बीस साल तककी अवस्था वृद्धि कही जाती है अर्थात् शरीरके सब अवयव (अंग) बढते हैं । तीस सालतक युवा अवस्था कही जाती है । चालीस सालतक सब धातुओंका अर्थात् रोम, चर्म, रुधिर इत्यादि सातों प्रकारकी धातुओंकी तथा सब इन्द्रियोंकी, बल और वीर्य्यकी सम्पूर्णता होती है अर्थात् ये सब पुष्ट होते हैं । इससे ऊपर थोडी २ हानि आरंभ होजाती है अर्थात् धातु, इन्द्रिय, बल

और वीर्य्य सबोंकी हानि होने लगती है सो सत्तर सालतक बराबर हानि होती चलीजाती है। फिर वली (चमडेका सिकुडजाना) पलित (केशका श्वेत होना) खालित्य (खल्वाट वा चांदिल होजाना) आरंभ होजाता है, कास, श्वास (खासी दमा) इत्यादि रोगोंकी उत्पत्ति होती है, सर्वप्रकारकी क्रियाओंमें असमर्थ होजाता है। जैसे पुराने घरकी दीवालोंपर जलकी बूंदोंकी चोटसे हानि पहुंचती है धीरे २ नष्ट होजाती है। इसी प्रकार इस वृद्धावस्थामें सारा शरीर छीजने लगता है।

इस सुश्रुतके वचनसे भी जरावस्था दुःखदायिनी होना सिद्ध होता है।

सो भगवान् कहते हैं, कि ऐसी जो जरा तथा मृत्यु जो सबके साथ २ उत्पन्न हुई है प्राणियोंको अत्यन्त दुःखदायिनी है। जराके पश्चात् तो मृत्युका आना सर्वशास्त्रसम्मत है। अन्य अवस्थाओंमें जो मृत्यु आती है वह तो अचानक एका-एक अचेत अवस्थामें आपहुं-चती है पर जरा तो मृत्यु की दूती है जो पहलेसे पत्रपर कुछ लिखा हुआ लिये आती है। जैसे यहां इन राजा महाराजाओंकी कचह-रीसे जब बुलाहट (संमन) होती है तब एक श्वेतपत्रपर काले अक्ष-रोंसे बुलाहट (संमन) की आज्ञा लिखी हुई आती है। इसी प्रकार जब सिरके बाल सब श्वेत होजाते हैं और कहीं २ दो चार बालोंकी काली पंक्ति रहजाती है तब जानना चाहिये, कि मृत्युकी दूती जरा यमके दरबार (कचहरी) से बुलाहटका आज्ञापत्र (सम्मन) लेकर पहुंचगई है और कहती

है, कि प्यारे अबभी तो चेतो ! कब तक इस मिट्टी पानीकी लोथमें डूबा रहना चाहते हो ?

सो दूती कैसी कराली है, कि सहस्रोंवार उससे आदर सम्मानसे प्रार्थना और विनय कीजिये परे वह तो कुछ भी नहीं मानती। इतनेमें मृत्यु भी पहुंचजाती है फिर तो मत पूछिये ! जिसके भयसे सारा ब्रह्माण्ड थर्रा रहा है, जिसके भयसे चक्रवर्त्ती वीर सहस्रों विद्या निपुण भागे फिरते हैं, जो इस संहारकारिणी देवीसे बचसके ऐसा कौन है ? अब मृत्यु अर्थात् मरनेके समय किस प्रकारके दुस्सह क्लेश सहने पडते हैं ? सो कहते हैं।

भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कह आये हैं, कि " जीर्णानि वस्त्राणि "···· (देखो अ० २ श्लो० २ में) अर्थात् मरणके समय प्राणी एक शरीरसे दूसरे शरीरमें बदल जाता है इसका पूर्ण व्याख्यान इस श्लोककी टीकामें करआये हैं। यहां फिर पुनर्बार उसके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। एवम् प्रकार मरणके समय २४००० वृश्चिक दंशन (डंक) शरीरपर चढते हैं। जिस समय प्राण शरीरको छोडने लगता है सब इन्द्रियां व्याकुल होकरे एक दूसरेके साथ लिपटकर मिल जाती हैं। जैसे सर्पको धक्का देनेसे सिमट कर गोलाकार बनजाता है और मारेजानेके भयसे अपने मुखको अपने शरीरके भीतर करलेता है।

इसी प्रकार सब इन्द्रियां अपनी चालोंको समेट लेती हैं और सब प्राणके साथ मिलजाती हैं। क्योंकि जितनी इन्द्रियां हैं वा मन,

बुद्धि हैं ये सब प्राणके सूतमें पिरोयी हुई हैं जिस समय प्राण ऊर्ध्वमुख अर्थात् ऊपरकी ओर निकलनेके लिये मार्ग खोजता है उस समय इन्द्रियोंको बडी व्याकुलता होती है। जैसे चक्कीमें गोधूम पिसकर चूर २ होजाता है ऐसे अंग २ पिसकर चूरे २ होजाते हैं। जो बुद्धिमान हैं और ज्ञानी हैं वे दूसरोंको मरते हुए देख इन दुःखोंका अनुभव करते हैं।

अवधूत दत्तात्रेयने जो मनुष्योंकी मृत्युका समय पहचाननेकेलिये थोडेसे लक्षण वर्णन किये हैं पाठकोंके कल्याणार्थ इस स्थानमें लिखे जाते हैं जिससे कुछ काल पूर्व ही अपने मरनेका समय प्राणियोंको तो ज्ञात होसकता है। साधारण पुरुषोंको ज्ञात हो वा न हो पर योगियोंको तो ये लक्षण अवश्य ज्ञात होते हैं।

" देवमार्गं ध्रुवं शुक्रं सोमच्छायामरुन्धतिम्।
यो न पश्येन्न जीवेत्स नरः सम्वत्सरात्परम्॥
अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम्।
दृष्ट्वैकादशमासेभ्यो नरो नोर्ध्वं स जीवति॥
वान्त्यां मूत्रे पुरीषे वा सुवर्णं रजतं यथा।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम्॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गन्धर्वनगराणि च।
सुवर्णवर्णान् वृक्षांश्च नवमासान् स जीवति॥
स्थूलः कृशं कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते।
प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्॥
खण्डं यस्य पदं पार्ष्ण्योः पादस्याग्रेऽथवा भवेत्।

पांशुकर्दमयोर्मध्ये सप्तमासान् स जीवति ॥
कपोतगृध्रकाकोलं वायसो वापि मूर्द्धनि ।
क्रव्यादो वा खगो लीनः षण्मासायुः प्रदर्शकः ॥
हन्यते काकपंक्तीभिः पांशुवर्षेण वा पुनः ।
स्वच्छायां चान्यथा दृष्ट्वा पंचमासान् स जीवति ॥
अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रितम् ।
पयसीन्द्रधनुर्वापि जीवितं द्वित्रिमासिकम् ॥
घृते तैले तथाऽदर्शे तोये वा चात्मनस्तनुम् ।
यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति ॥
यस्य वस्तसमो गन्धो गात्रे शवसमोपि वा ।
तस्यार्द्धमासिकं ज्ञेयं योगिनो नृप ! जीवितम् ॥
यस्य वै स्नानमात्रस्य हृत्पादमवशुष्यति ।
पिवतश्च जलं शोषो दशाऽहं सोपि जीवति ॥
स्तम्भितो मारुतो यस्य मर्म्मस्थानानि कृन्तति ।
न हृष्यत्यम्बुसंस्पर्शात्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥
रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम् ।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥
आमस्तकतलाधस्तु निमग्नं पंकसागरे ।
स्वप्नेऽपश्यत्तथात्मानं नरः सद्यो म्रियेत सः ॥
करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युं स आप्नुयात् ॥
सूर्य्योदये यस्य शिवा क्रोशन्ती याति सम्मुखम् ।

विपरीतं परीतं वा स सद्यो मृत्युमृच्छति ॥
दीपादिगन्धं नो वेत्ति वसत्यग्निं तथा निशि ।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति ॥
शक्रायुधं चार्द्धरात्रे दिवाग्रहगणं तथा ।
दृष्ट्वा मन्येत संक्षीणमात्मजीवितमात्मवान् ॥
उष्ट्रासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।
प्रयाति तं विजानीयात् सद्यो मृत्युं नरेश्वर! ॥
ऊर्द्ध्वा च दृष्टिर्न च संप्रतिष्ठा रक्ता पुनः संपरिवर्त्तमाना ।
मुखस्य चोष्मा शिशिरा च नाभिः शंसन्ति पुंसामपरं शरीरम् ॥
स्वभाववैपरीत्यन्तु प्रकृतेश्च विपर्ययः ।
कथयन्ति मनुष्याणां सम्भासन्नौ यमान्तकौ ॥"

(मार्कण्डेयपुराणे अलर्काव्याख्याने अ० ४३)

अर्थ स्पष्ट है तो भी संस्कृत रहित पाठकोंके कल्याण निमित्त इनश्लोकोंका संक्षिप्त तात्पर्य्य लिखदिया जाता है अर्थात् मृत्युके लक्षणोंको जनादिया जाता है—

१. देवमार्ग जो आकाशमें डगरके समान उदय होता है जिसको तथा ध्रुवको,शुक्रको,चन्द्रमाकी छायाको जो चन्द्रमाकी ओर घिरी हुई रहती है और अरुन्धती नामकी जो एक छोटीसी तारा सप्तर्षियोंमें वशिष्ठके साथ केवल दो अंगुल मात्रके अन्तरपर उदय देख पडती है इनको जो न देखे वह साल भरके भीतर मरजावे ।

२. सूर्य्य और अग्निकी किरणोंको जो न देखे सो केवल ग्यारह महीने जीवे ।

३. अपने उवान्तमें, मूत्रमें और मलमें जो सोना चांदीके समान प्रत्यक्षमें अथवा स्वप्नमें देखे सो केवल दस महीने तक जीवे।

४. भूत, प्रेत, पिशाच, गन्धर्वनगर तथा स्वर्णके वृक्षोंको जो देखे तो केवल नव महीने तक जीवित रहे।

५. जो एकाएक मोटेसे दुबला और दुबलेसे मोटा होजावे और जिसका स्वभाव रुक जावे वह केवल आठ महीने तक जीवे।

६. जिसका पांव, एडी तथा पांवका अगला भाग धूलिमें वा कीचडमें टुकडे २ देखपडे वह केवल सात महीनोंतक जीवे।

७. कपोत, गीध, सर्प, काग, कच्चा मांस खाने वाले पक्षी इत्यादिको सिरपर देखनेसे केवल ६ महीना जीवित रहे।

८. कागोंकी पंक्तियां अपनी चौंचसे यदि मारने लग जावें अथवा धूलीकी वर्षासे मनुष्य व्याकुल हो तथा अपनी छायाको पुलटा देखे तो पांच माससे अधिक न जीवे।

९. यदि दक्षिण दिशामें बिना मेघके विजली चमकती हुई देखे और जलमें इन्द्र धनुष (पनसोखा) देखे तो दो तीन माससे अधिक न जीवे।

१०. घी, तेल, दर्पण और जलमें जो अपने शरीरको बिना सिरके देखे तो एक माससे अधिक न जीवे।

११. बकरेके समान वा मृतक शरीके समान जिसके अंगसे दुर्गन्ध निकले तो जानो, कि तिस योगीका शरीर पन्द्रह दिवससे अधिक न वर्त्तमान रहे।

१२. जिस प्राणीका हृदय और पांव स्नानके पश्चात् सूखा देखे और जल पीनेपर भी पिपासाकी शान्ति न होवे तो वह प्राणी १० दिनसे अधिक न जीवे ।

१३. जिसके शरीरके वायुका प्रवाह रुकजावे तथा मर्मस्थानोंको बेधे और जलके स्पर्शसे जो हर्षित न हो तो जानना चाहिये, कि इसकी मृत्यु सिरपर आगई ।

१४. जो नारी लाल और काले वस्त्रोंको धारण किये हुई तथा गाती हुई और हंसती हुई जिस प्राणीको दक्षिण दिशामें लिये जाती हुई स्वप्नमें देखपडे तो जानना, कि वह प्राणी नहीं बचेगा ।

१५. जो प्राणी स्वप्नमें अपना मस्तक पंक (दल-दल) में डूबाहुआ देखे तो जानो, कि वह शीघ्र ही मरजावेगा ।

१६. जो प्राणी ऐसा स्वप्न देखे, कि कोई अत्यन्त कराल बिकट काला वर्ण हाथमें हथियार उठाकर पाषाणसे मार रहा है तो जानो, कि उसकी मृत्यु आगई ।

१७. सूर्य्योदय होते ही जिसके सामनेसे सियाली रोतीहुई सम्मुख आजावे चाहे सीधी हो वा उलटी हो तो जानो, कि वह प्राणी मरा ।

टिप्पणि— " सप्तोत्तरशतं सन्ति देहे मर्माणि देहिनाम् । तान्येकादशमांसेस्यु-रष्टावस्थिषु सन्ति हि । सन्धीनां विंशतिस्तानि स्नायुनां सप्तविंशतिः । चत्वारिंशत्तथैकं च शिरामर्माणि तत्र तु ॥ द्वाविंशतिः सक्थियुगे तावन्त्येव भुजद्वये । द्वादशोरसि कुक्षौ च पृष्ठदेशे चतुर्दश ॥ ग्रीवायामूर्ध्वभागे तु सप्तत्रिंशन्मतानि हि " (भावप्रकाशः)

१८. जिसको दीपककी जलीहुई बत्ती की गन्ध न जानपडे, रात्रिको आग वमनकरे और जो अपने आकारको परायेके नेत्रोंमें न देखे तो जानो, कि अब वह नहीं जीवेगा ।

१९. यदि अर्द्धरात्रिको इन्द्रधनुष (पनसोखा) और दिनमें तारागणको देखे तो प्राणी ऐसा जाने, कि अब मेरा जीवन क्षीण होगया ।

२०. जो प्राणी स्वप्नमें ऊँटपर अथवा गधेपर चढाहुआ दक्षिण दिशाकी ओर अपनेको जाताहुआ देखे तो दत्तात्रेय कहते हैं, कि हे राजन्! उसको शीघ्र मराहुआ जानो ।

२१. जिसकी आंखें ऊपरको चढजावें अपने स्थानपर न लौटें तथा लाल हों और चारों ओरे फिरतीहुई हों तथा मुख गर्म हो नाभि ठण्डी हो तो जानो, कि अब उसका शरीर बदल जावेगा ।

२२. जिसका स्वभाव और प्रकृति बदलजावे अर्थात् देवता, पितरे, गुरुदेव, प्रतिमा इत्यादिमें जो पहले पूज्य-बुद्धि थी वह एकाएक बदलगई अर्थात् इनमें जिसकी पूज्य-बुद्धि न रही तो उसे लोग ऐसा कहते हैं, कि यह यमके समीपमें जा बैठा है । (इससे और अधिक कुछ जाननेकी इच्छा हो तो मार्कण्डेयपुराण अलर्क उपाख्यान अ० ३ को देखो)

अब उक्त प्रकार जो जरा मरणके दुःखोंका वर्णन कियागया उसके विषय भगवान् कहते हैं, कि (मामाश्रित्य यतन्ति ये) मेरे आश्रित होकर जो यत्न करते हैं उन्हें ये जरा और मृत्यु नहीं सताती ।

शंका— भक्तोंको मृत्यु क्यों नहीं सताती ?

समाधान— भक्तोंकी मृत्यु तो अवश्य होती है पर उनको सताती नहीं अर्थात् मृत्युके समय कोई क्लेश नहीं व्यापता। भक्तोंका शरीर सुखपूर्वक ऐसे छुटता है जैसे हस्तीके गलेसे पुष्प-माला टूट-कर गिरजाती है। जैसे छोटा बच्चा माताकी गोदमें सुखपूर्वक सोजाता है ऐसे भक्त अन्तकालमें भगवत्-स्वरूपमें सुखपूर्वक शयन करजाते हैं। शंका मत करो !

फिर भगवान् कहते हैं, कि जब एवम्प्रकार मेरे भक्त जरा और मृत्युसे छुटजानेकेलिये मेरे आश्रय हो उपासना और भजन करतेहुए यथार्थ यत्न करते हैं।

[ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्]

तब वे तिस शुद्ध परब्रह्मको जो मायाका अधिष्ठान है जहांसे माया निकलती है जानजाते हैं। इसी कारण वे मायाके धोखेमें नहीं पडते माया उनको नहीं सतासकती। क्योंकि जिसने मायावालेको जानलिया और मायावालेसे मिलगया तब माया उसे क्या करसकती है ? क्यों कि जितनी कलाएं मायाकी हैं सबोंके मर्मको वह भक्त जानलेता है अतः वह दुःख नहीं पासकता।

भगवान पहले भी कह आये हैं, कि " मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते " (देखो श्लोक १४) अर्थात् जो मेरी शरण होते हैं वे मेरी मायाको तरजाते हैं फिर जो प्राणी मायासे रहित हुआ वह अवश्य उस मायावीको समग्ररूपसे जाननेवाला होहीगा।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मेरे भक्त जरा मरणके भयसे छूटकर तिस ब्रह्मको अर्थात् मेरे यथार्थ स्वरूपको समग्र-रूपसे जानजाते हैं। फिर वे (कृत्स्नमध्यात्मम्) सम्पूर्ण अध्यात्मतत्वको भी जानते हैं तथा (कर्म चाखिलम) अखिल कर्मको जानते हैं।

यह अध्यात्म क्या है ? और कर्मसे क्या तात्पर्य है ? भगवान् अर्जुनके पूछनेपर आठवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। इस-लिये यहां इनके विषय कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! इस अध्यात्म और अखिल कर्म जाननेके अतिरिक्त तुम्हारे भक्त और क्या २ जानते हैं ? सो कृपा कर कहो !

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३०

पदच्छेदः— ये, साधिभूताधिदैवम् (अधिभूतं च अधिदैवं च ताभ्यां सहितम्) साधियज्ञम् (अधियज्ञेन सह) ये, च, माम् (महेश्वरम्) विदुः (चिन्तयन्ति भावयन्ति वा) ते, युक्तचेतसः, (समाहितचित्ताः) प्रयाणकाले (मरणकाले) अपि, च, माम् विदुः (जानन्ति) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (ये) जो पुरुष (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा (साधियज्ञम्) अधियज्ञके सहित

च (भी) माम् (मुझ महेश्वरको) विदुः जानते हैं अर्थात् मेरा चिन्तमन और भजन करते हैं (ते, युक्तचेतसः) वे समाहित-चित्तवाले अर्थात् एकाग्रवृत्तिवाले (प्रयाणकालेपि, च) मरणकालके उपस्थित होनेपर भी (माम्, विदुः) मुझको ही स्मरण करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि अध्यात्मादि जाननेके अतिरिक्त आपके भक्त जन और क्या २ जानते हैं ? तिसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, कि [साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः] अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ भी जो २ प्राणी मुझ वासुदेवको सर्वोंका ईश्वर अर्थात् महेश्वर करके जानते हैं तात्पर्य यह है, कि इन तीनों तत्त्वोंके साथ जो मेरी उपासना करते हैं [प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः] वे युक्तचित्तवाले जिनकी मनोवृत्ति अहर्निश मुझे छोड अन्य किसी देवता देवीकी ओर नहीं जाती और न मुझे छोड किसी अन्य लोक-लोकान्तरके सुखोंकी जिनको चाहना है वे इसी कारण केवल मुझमें युक्तचित्त हैं अर्थात् एकाग्रचित्त हो मुझहीमें ध्यान लगाये रहते हैं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला, धाम इत्यादिका चिन्तमन करते रहते हैं ऐसे युक्त-चेतस मरणकालमें भी मुझको ही स्मरण करते हैं, मेरे ही रूपमें आसमाते हैं अर्थात् मरणकालके समय उनको मृत्युका दुःख नहीं होता। क्योंकि उनको किसी प्रकारका द्वन्द्व वा किसी प्रकारकी चिन्ता अथवा किसी प्रकारका क्लेश वा भय तथा किसी प्रकारका रोग मरणके समय नहीं होता, वे तो हंसते, खेलते, गाते, बजाते मेरे ही स्वरूपमें प्रवेश करजाते हैं।

अब रहा यह, कि भगवान्‌ने जो कहा, कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझको जानते हैं सो ये तीनों तत्त्व क्या हैं ? उनका वर्णन आगे अष्टम अध्यायमें किया जावेगा ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति सप्तमोऽध्यायः

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१६०४	५	हित्वा	हिता
१६०७	४	स्तया	स्तस्या
,,	५	भ्रात्माज्ञान	आत्मज्ञान
१६२४	११	नामुंचन्ति	न मुं ति
१६२५	३	है	हैं
१६२७	१८	ह	है
१६३१	१०	है	हैं
१६३६	४	पर	परम
१७००	११	करता	कराता
१७१८	१३	अनन्दकन्द	आन[illegible]
१७१८	१६	स्तस्थो	[illegible]
,,	२०	[illegible]	[illegible]
१७२४	[illegible]	[illegible]	मम
१७२[illegible]	[illegible]	[illegible]त्यं	दानन्त्यं
,,	१५	तस्यानित्य	तस्यनित्य
१७६०	१६	ममप्रिय	मम प्रियः
१७१८	१७	बहुनाम	बहूनाम्
१७७३	१६	कर्तृत्वभिमान	कर्तृ-त्वाभिमान
१७७६	१५	पूजयितुम	पूजयितुम्
१७८३	२१	य ए वैक	य एवैक
१७८८	१३	प्रणश्यतिः	प्रणश्यति
१७६१	३	याति	यान्ति
		मन्मपि	मामपि
१७६३	१७	अन्यन्त	अत्यन्त
१८०६	४	गूढोत्मा	गूढात्मा
१८०८	२१	श्रुयियों	श्रुतियों
१८१७	१०	वार्द्धक्यम्-मर०	वार्द्धक्य-मरण
१८२१	१८	नलाघस्तु	नखाघस्तु
१८२४	११	सभासन्नौ	समासन्नौ
१८२६	११	स्नायुनां	स्नायूनां